स्वप्न के संकेत

डॉ. शुभकार कपूर
एम. ए., पी-एच. डी

हिन्दी विद्या भण्डार
चौक, लखनऊ

प्रकाशक
कृष्ण नारायण टन्डन
हिन्दी विद्या भण्डार
गोल दरवाजा, चौक
लखनऊ

विजया दशमी सं० १९२१
मूल्य दो रुपये पचास पैसे

मुद्रक
नवभारत प्रेस
नादान महल रोड
लखनऊ

दो शब्द

जीवन के उत्थान-पतन के मध्य पनपने वाला, सुख-दुख के तड़ित-वारिद-सम क्रीड़ा करने वाला मानव आज जीवन की विभीषिका के संघर्षों से थपेड़े खाकर स्वर्णतुल्य निखर गया है। परिस्थितियों की जकड़बन्दी में पिसकर, मजबूरियों में बँधकर, बेबसी से दबकर, मनुष्य कुछ ऐसे कार्य करने पर मजबूर हो जाता है जो समाज की दृष्टि में हेय है। कुछ ऐसी ही लाचारियाँ और परिस्थितियों की थपेड़ों का चित्रण 'स्वप्न के संकेत' में हिन्दी के उदीयमान उपन्यासकार डा० शुभकार कपूर की कलात्मक लेखनी से प्रस्तुत हुए हैं। प्रस्तुत उपन्यास में यथार्थ और आदर्श का अपूर्व संगम है। भाषा मँजे हुए लेखक के हाथों में पड़कर सजीव, प्रवाहपूर्ण और सप्राण हो गई है। चरित्र-चित्रण की भव्यता, कथोपकथन की सजीवता, वातावरण की स्वाभाविकता भावों की मुक्तामणियाँ अनूठे रूप में उपन्यास किरीट् में कुछ ऐसी निपुणता से जड़ित हुई हैं कि सहृदय पाठक स्वतः ही आकृष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः 'स्वप्न के संकेत' में मानव-जीवन की सच्ची व्याख्या हुई है और हुआ है भारतीय समाज का सजीव, एवं मूर्तमान चित्रण।

कृष्ण नारायण टंडन
हिन्दी-विद्या-भंडार, चौक
लखनऊ

लेखक परिचय

डॉ० शुभकार कपूर एम० ए०, पी-एच० डी० का जन्म खैराबाद, जिला सीतापुर मे हुआ आपके पिता श्री गोविन्द प्रसाद कपूर अत्यन्त धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि के व्यक्ति हैं। डा० कपूर को साहित्य में आने का प्रारम्भिक प्रोत्साहन अपने पिता से ही प्राप्त हुआ। शिक्षा—लखनऊ विश्वविद्यालय से एम० ए० किया। 'आचार्य चतुरसेन का कथा-साहित्य' शीर्षक प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। स्व० आचार्य चतुरसेन शास्त्री के साथ रहने और उनसे सीखने का अवसर भी आपको मिला। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे आपकी कितनी ही कहानियाँ, नाटक, लेख एवं आलोचनाएँ आदि प्रकाशित हो चुकी हैं। आकाशवाणी से भी आपकी कई वार्ताए प्रसारित हुईं। सन् १९५५ में आपका प्रथम उपन्यास 'जयसिद्ध पुरुष' प्रकाशित हुआ। तबसे अब तक आप विभिन्न विषयो पर कई ग्रथो की रचना कर चुके हैं। डा० भगीरथ मिश्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय के साथ आपको 'अच्छी हिन्दी कैसे लिखे ?" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त आपकी शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली अन्य कृतियाँ है—"आचार्य चतुरसेन का कथा-साहित्य' (शोध प्रबन्ध) राम काव्य की परम्परा और लक्ष्मण (खोज रचना), विद्यापति पदावली (आलोचना) साहित्यिक निबन्ध, एवं (भाषादर्श (डा० भगीरथ मिश्र के साथ) आकाश के आँसू (उपन्यास), अँधियारे का सूरज (उपन्यास), काल के नेत्र (कहानी सग्रह), लक्ष्मण का बलिदान (एकाकी संग्रह), साहित्यकारों के साथ (इन्टरव्यू) उत्तर-दक्षिण एक देश (यात्रा-संस्मरण), सौ महान् भारतीय। स्व० आचार्य चतुरसेन के अधूरे उपन्यास "सोना और खून" को भी पूर्ण करने का प्रयास किया। 'अँधियारे का सूरज' इसी प्रयास का परिणाम है। आजकल आप सन् १८५७ से १९४७ ई० के काल पर भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर आधारित श्री यशपाल जी एवं मन्मथनाथ गुप्त के निर्देशन में एक उपन्यास-सप्तक लिख रहे हैं। "स्वप्न के संकेत" उपन्यास मे आपने एक विचित्र नारी के मानसिक उहा-पोहों को अंकित किया है।

पहले मेरी सुनिए

जी हाँ, बात सन् साठ के दिसम्बर की है। मैं बम्बई में था। स्व० आचार्य चतुरसेन के उपन्यास "धर्मपुत्र" पर फिल्म बन रही थी। आचार्य जी का स्वर्गवास हो चुका था। उपन्यास पर फिल्म बनने का अनुबन्ध उनके जीवन काल में ही हो गया था। अकस्मात् उनकी मृत्यु से सभी को धक्का पहुँचा। किन्तु अनुबन्ध हो चुका था, तो फिल्म बननी ही थी और बनी भी। निर्देशक महोदय ने पट-कथा और संवाद लेखन का प्रबन्ध कर ही लिया था। उन्हीं के आग्रह पर मैं भी बम्बई में रुका हुआ था।

उन्हीं दिनों की बात है। एक दिन मैं फिल्मी जगत के एक प्रसिद्ध अभिनेता के साथ जुहू तट पर भ्रमण करने निकला। संध्या का समय था। जुहू तट की चहल-पहल बढ़ी हुई थी। भीड़-भाड़ से बचते-बचाते हम लोग तट के किनारे-किनारे चलते चले जा रहे थे। इसी समय न जाने क्या सोचकर अभिनेता ठिठक कर खड़े हो गए। क्या लौटूं ? मैंने प्रश्न किया।

'नहीं !" उनका संक्षिप्त-सा उत्तर था। उत्तर देने के पश्चात् वे शून्य दृष्टि से एक निर्जन पथ की ओर ताकने लगे।

अभिनय के मूड में आगए क्या ?"

"नहीं !" उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "कहिए तो आपको मैं एक विचित्र महिला से मिला दूँ.........।"

"कौन है वह !" मैंने प्रश्न किया।

"जान जाओगे" उन्होंने मेरा हाथ खींचते हुए उत्तर दिया। 'चलो' और मैं चल पड़ा।

उस महिला से मिल कर सचमुच मैं खोया सा रह गया ! फिल्मी जगत में रह चुका था। कितनी ही अभिनेत्रियों को अत्यन्त निकट से देखा था, किन्तु उस महिला जैसा आकर्षण मुझे आज तक किसी में नहीं दीख पड़ा था। सचमुच वह एक विचित्र महिला थी ! परिचय के

थोड़ी ही देर पश्चात् वह हम से खुल गई। काफी समय तक बातें होती रहीं। कभी उसके विषय में कभी अपने विषय में। अन्त में जब मैं चलने को हुआ तो उसने मेरे हाथ में एक छोटा-सा पुलन्दा पकड़ा दिया। 'क्या है यह ? मैंने आश्चर्य से पूछा !

'मेरी कथा का कुछ अंश सुन कर आपने आँसू बहाए, मेरे प्रति सहानुभूति दिखलाई किन्तु मन ही मन हँसे भी होंगे मेरी कहानी सुन कर........" भरे हुए गले से उसने कहा।

"नहीं ऐसी कोई बात नहीं........" मेरी बात बीच में ही काटकर वह बोली, "देखिये, आप लेखक हैं। आपके पास भावुक हृदय है। मैं भावुक तो हूँ किन्तु उसको व्यक्त करने की शक्ति मुझ में नहीं है। यहाँ एकान्त में पड़े-पड़े जो कुछ भी मेरे मस्तिष्क में आया मैंने अपनी आत्मकथा के रूप में लिख डाला है। अब इसके सजाने-संवारने का कार्य आप का है....।" इतना कहकर उसने वे कागज मेरे हाथ में पकड़ा दिए।

मैं निस्तब्ध मूर्ति बन खड़ा था। कागज हाथ में आने पर कुछ चौंका। कागज ले लिए। लेकर घर आया, पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि उस महिला में कितनी भावुकता थी। वह कथा अंग्रेजी में लिखी हुई थी। कथात्मक रूप न देकर उसे संग्रहात्मक रूप दिया गया था। उस समस्त सामग्री को मैंने व्यवस्थित किया, काटा-छाँटा और थोड़ा क्रमबद्ध रूप देकर उसे कथात्मक रूप दे डाला। बस, यह कहानी बन गई। जैसा उस महिला का आदेश था उसी प्रकार से मैंने अपने कर्त्तव्य के पालन का प्रयत्न किया है। सफलता कहाँ तक मिल सकी है, इसका निर्णय तो आपके हाथ है।

और अब इस पर विश्वास कीजिए

उपन्यास के सभी पात्र काल्पनिक हैं। किसी व्यक्ति विशेष से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

२०१, राजेन्द्र नगर
लखनऊ

—शुभकार कपूर
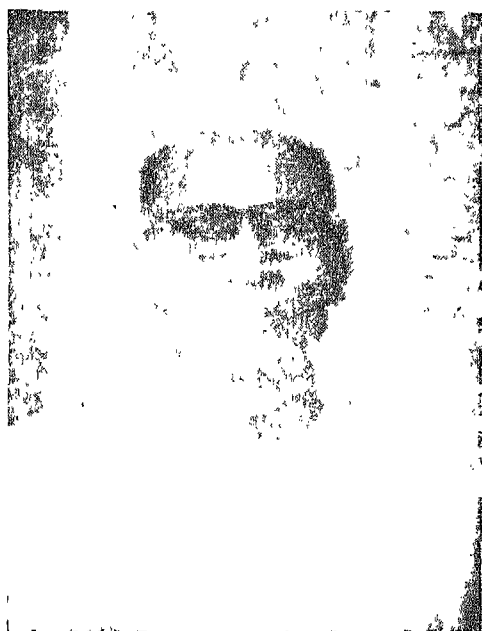
पूज्य पिता श्री गोविन्द प्रसाद कपूर

एवं

अग्रज भ्राताओं श्री ओंकार, निरंकार एवं

जैकारनाथ कपूर

को

सादर सविनय

स्वप्न के संकेत

१

मैं शैवालिनी हूँ। नारी हूँ, किन्तु नारी का हृदय मुझे प्राप्त नहीं है, माता हूँ, किन्तु मातृत्व का भाव मुझे स्पर्श तक नहीं कर सका है। वास्तव में मैं एक ऐसी नारी हूँ जिसने अपने हाथ से अपने सुख सौभाग्य का गला घोंट दिया है और घोंट देने के पश्चात् भी मुझे चैन नहीं आया....मैं आज भी उस घुटन की पीड़ा को समझ नहीं पाई हूँ। समझूँ भी कैसे ? यदि समझ पाती तो क्या मैं अपने हाथों से अपने सुहाग को लुटा देती, अपने ही दीपक से अपने ही घर को भस्म कर लेती....नहीं....नहीं....नहीं मैं ही अपराधिनी हूँ, दोषी मैं हूँ अत: दंड भी मुझे ही मिलना चाहिए। मेरे पति को नहीं। मेरे पति देवता हैं....नीच मैं हूँ.... पातकी मैं हूँ, प्रेम की हत्या मैंने की है मेरे पति ने नहीं। आज तक मैं चुप साधे रही, कानून के भय से अपने को छिपाती रही, अपने भावों को दबाती रही किन्तु आज....आज मैं अपनी पूरी कहानी आपको सुना कर ही रहूँगी। मैं जानती हूँ कि आज मेरा कुयश केवल नगर व्यापी न रहकर देश व्यापी हो गया है, सभी मेरे नाम से घृणा करने लगे हैं। आप समझते हैं कि मैं इस घृणा से अपरिचित हूँ, अपने प्रति लोगों की दुर्भावनाओं से अज्ञात हूँ। आप भूल करते हैं। वास्तव में सत्य यह है कि मैं अब स्वयं अपने से घृणा करने लगी हूँ। मुझे अब वे लोग अधिक प्रिय हैं

जो मुझसे घृणा करते हैं""जो मेरे मुँह पर थूककर कहना चाहते हैं कि यह कुतिया है, वेश्या है....कुतिया! ठीक ही तो है मैं कुतिया ही तो हूँ। कौन कहता है कि मैं कुतिया नहीं हूँ ? आप भी आश्चर्य न कीजिए ? यह सत्य है। मैं यही दिखलाने के लिए कि दोष मेरा है, अपराधिनी मैं हूँ अपनी करुण कहानी आपको सुनाने जा रही हूँ। कहानी सुनाने के पूर्व मैं आपसे इतना अवश्य कह देना चाहती हूँ कि मैं आपको अपना असली नाम नहीं बतलाऊँगी, न ही यह बतलाऊँगी कि मैं आजकल कहाँ हूँ, हाँ इतना अवश्य बतला रही हूँ कि मेरे पति मेरे ही कारण जेल में पड़े मेरी वफ़ादारी के नाम पर आँसू बहा रहे हैं। मैं एक उच्च परिवार की कन्या और बहू हूँ। उच्च शिक्षा प्राप्त, विदेश भ्रमण किए हुए। किन्तु वासना के आगे मेरी शिक्षा, मेरी संस्कृति, मेरे संस्कार सभी भस्मीभूत हो गए और मैं""मैं आज सम्पूर्ण संसार की नज़र में एक कुतिया से भी निम्न कोटि की बन बैठी। अन्तत: यह क्यों ? ऐसा क्यों हुआ ? आप पूँछ सकते हैं। मैं इसी कारण से आपको अपनी पूरी कहानी सुनाने जा रही हूँ किन्तु नाम बदलकर जिससे आप मेरे समीप आकर मेरी वफ़ादारी की दाद न देने लगें जानते हैं क्यों ? मुझे मनुष्य मात्र की सहानुभूति से घृणा हो गई है। मैं आपकी सहानुभूति की इच्छुक नहीं हूँ।

अपनी कथा प्रारम्भ करने के पूर्व मेरे शैशव के मधुर चित्र मेरे मानस पट पर उभर-उभर कर छाये जा रहे हैं। मुझे स्मरण आ रहा है उस समय मैं कोई सात वर्ष की रही हूँगी। माँ की लाड़ली पिया प्यारी इकलौती सन्तान। दिन रात कुलांचे मारती रहती। मैं जिस वस्तु की इच्छा करती, वह पूरी अवश्य हो जाती। अधिक लाड़-प्यार ने मुझे जिद्दी बना दिया था। मुझे मास्टर पढ़ाने आते थे किन्तु मैं उनसे पढ़ती न थी उनके मुँह को

निहारा करती थी। काम करना तो दूर रहा उल्टे मास्टर साहब को ही मूर्ख बनाने के चक्कर में रहा करती थी। मैं नटखट भी कम न थी। छोटी सी उम्र किन्तु नटखटी के बड़े-बड़े गुणों से मैं परिचित हो चुकी थी। हाँ, मैं क्या याद कर रही थी और बतलाने क्या लगी। मेरी दादी जी ने मेरी नटखटी देखकर एक दिन क्रोध में कह दिया था कि यदि ऐसे ही करम रहे तो तू घर का नाम उजागर करेगी ! मैं अपने पड़ोस के एक लड़के को मारकर भाग आई थी। उस समय भी दो लड़कों में मेरे ही कारण संघर्ष हो गया था। एक था मनोज और दूसरा था प्रकाश। मैं प्रकाश के पक्ष में थी और मनोज से घृणा करती थी। मेरे ही कारण एक दिन प्रकाश ने मनोज को धर पटका था, मैं भी साथ थी। मैंने भी मनोज का सिर फोड़ने में प्रकाश की सहायता की थी। इसी बात से दुःखी होकर मेरी दादी जी ने मुझ पर उपर्युक्त व्यंग कस दिया था। आज मैं देखती हूँ कि उनकी व्यंग रूप में कही हुई वह भविष्यवाणी कितनी सत्य साबित हुई। क्या आज मैंने सचमुच अपने कुल का नाम उजागर नहीं किया। यह बात दूसरी है कि लोग मेरा नाम आज घृणा से लेते हैं, किन्तु दादी जी ने भी तो घृणा के अर्थ में ही मेरे नाम उजागर करने की बात कही थी।

इसी से मिलता-जुलता एक चित्र मेरे मानस पटल पर और उभर रहा है। मैं युवा हो चुकी थी। माता-पिता मेरे विवाह के लिए चिंतित रहा करते थे। वैसे मुझे कहते लज्जा आ रही है कि मुझे विधाता ने अद्वितीय रूप दिया था। कभी-कभी तो मैं स्वयं दर्पण के समक्ष खड़े होने पर अपने इस अभागे रूप पर मोहित हो जाती थी। मुझे अपने सौन्दर्य पर गर्व था, अपने धन पर घमंड था। मेरा अहंकार नित्य प्रति बढ़ता ही जा रहा था। मेरी चुलबुलाहट भी बढ़ गई थी। प्रथम मोहल्ले में, फिर नगर

में मेरे रूप की चर्चा फैल चुकी थी। मनचले युवक मेरे चारों ओर भ्रमरों की भाँति भ्रमण करने लगे थे। मैं भी उन पतिंगों को अधिक से अधिक जलाने के लिए अपने रूप की ज्वाला को अधिक से अधिक तेज किए रहती थी। मेरे मस्तिष्क में वासना और अहंकार में सदैव द्वन्द्व चला करता था, किन्तु अहं के समक्ष वासना की पराजय ही होती आई है। पिता जी मेरे इस अंत-र्द्वन्द्व को भाँप चुके थे। वे शीघ्र से शीघ्र किसी एक सुन्दर वर से मेरा पाणिग्रहण कर देना चाहते थे, किन्तु एक मैं थी....क्या कहूँ। मुझे उस समय कोई भी युवक पसन्द ही नहीं आ रहा था। लग-भग दस युवकों का, जो पिता के द्वारा मेरे लिए पसन्द किए गए थे मैं अपमान कर चुकी थी। पिता जी मेरी इस उद्दण्डता पर कई बार क्रोधित भी हुए थे, किन्तु अन्त में वे मेरे विवाह की ओर से निराश हो चुके थे। मेरे रूप की ज्योत्स्ना नित्य प्रति निखरती ही जा रही थी।

इसी समय नवल से मेरा परिचय हुआ। नवल नौसेना में एक अफसर था। मेरी जाति का न होने पर भी मुझे पसंद था। शनैः शनैः मेरी उनसे घनिष्ठता बढ़ने लगी। उसके संपर्क से पिता प्रसन्न थे, माता संतुष्ट थीं और मैं....मैं तो अपने को ही भूल चुकी थी। नवल मुझसे कम सुन्दर न था, न ही मुझसे धन में ही कम था, किन्तु सत्य कहती हूँ, उसे गर्व छू तक न गया था। नेवी में होने पर भी एकदम सीधा-सादा, सरल स्वभाव, प्रकृति से कोमल तथा हृदय नवनीत के समान तरल। शीघ्र ही उसकी सरलता, तरलता एवं रूप के समक्ष मेरा अहम् द्रवित होकर बह गया और एक दिन मैंने उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। इसके पश्चात् माता-पिता की आज्ञा से हम दोनों विवाह सूत्र में बँध गए। इस अन्तर्जातीय विवाह का कुछ परिवार वालों ने, कुछ बिरादरी वालों ने विरोध किया परन्तु माता-पिता की दृढ़ता

के समक्ष उनका विरोध व्यर्थ गया। मुझे यह देखकर दुःख हुआ कि आज इस वैज्ञानिक युग में भी हमारा समाज लकीर का फकीर बना हुआ है। मुझे इसी समाज के कारण माता-पिता के चाहने पर भी नवल से सिविल मैरेज करनी पड़ी थी।

हम दोनों के सफल दाम्पत्य जीवन का प्रारम्भ हुआ। नवल मेरे रूप का पुजारी था और मैं उसके सौन्दर्य की आराधिका ! हम दोनों एक दूसरे से मिलकर एकाकार हो जाना चाहते थे, अभिन्न तो थे ही। अभी तक मैं सुनती आई थी कि स्त्री को पुरुष का अर्धांग कहा जाता था, मुझे आज यह बात स्पष्ट भास हो रही थी। वास्तव में नर के बिना नारी और नारी के बिना नर सदैव अधूरा ही तो है। किन्तु ऐसा क्यों? ऐसा कौन सा रहस्य है, जो दोनों को एक सूत्र में आबद्ध कर देता है? क्या वासना? नहीं, वासना नर-नारी के आकर्षण का कारण हो सकती है, किन्तु बन्धन का कारण नहीं। फिर यह बन्धन क्यों? मेरी समझ में यही आता है कि यह बन्धन आध्यात्मिक संस्कारों के कारण होता होगा। किन्तु मैंने तो कभी आध्यात्मिकता पर विश्वास नहीं किया। फिर आज अकस्मात् मेरे मुख से यह बात कैसे निकल गई? संस्कारवश ! सम्भव है। किन्तु एक बात और ! विवाह के पूर्व मैं नवल से उन्मुक्त हृदय से निःसंकोच मिलती थी, उसे अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती थी। मैं चाहती थी, वह मेरा हो जाय केवल मेरा और उसके अप्रतिम व्यक्तित्व को, अनूठे सौन्दर्य को, स्वस्थ और सुन्दर शरीर को, सम्पूर्ण यौवन को मैं अपने में समेट लूँ, उस सम्पूर्ण को मैं अपने में आत्मसात कर लूँ। उसके विशाल वक्षस्थल से मैं टकरा कर अपने को भूल जाना चाहती थी और न जाने क्या-क्या चाहती थी। किन्तु विवाह हो जाने पर मैं कुछ सकुचा गई थी, प्रथम मिलन पर मैं शर्मा गई थी, लजा गई थी। मैं आज तक नहीं

समझ पाई ऐसा क्यों हुआ था ? क्या इस कारण कि अब मैं उनकी विवाहिता पत्नी हो गई थी। वे मेरे स्वामी हो गए थे। स्वामी ! मुझे उस समय हँसी आ गई थी ! स्वामी। आज बीसवीं शताब्दी में भी पुरुष अपने को स्त्री का स्वामी समझता है, किन्तु मैं इसे नहीं मानती ? हम तो दोनों एक थे एक से दो होते हुए भी एक। फिर यह स्वामी और सेवक की बात क्यों ? प्रथम रात्रि के पश्चात् संकोच शनैः-शनैः दूर हो गया। वधू की गरिमा कुछ दिनों में ही मैं भूल गई, अब फिर मेरे लिए वही नवल था विवाह के पूर्व उन्मुक्त विचरण करने वाला और मैं थी उसकी नवेली शैल ! हम दोनों एक हँसी हँसते, एक साथ भोजन करते, एक साथ सोते और एक साथ घूमते। मुझे कितना भला लगता था जब वह अपनी बलिष्ठ भुजाओं में मुझे भर लेता था और फिर अधर पान.........। मैं कितनी मुग्ध हो जाती थी उस समय आनन्दातिरेक से मैं अपने अस्तित्व को ही भूल जाती थी। कितना अनिर्वचनीय आनन्द था वह। आज इस अवस्था में भी जब कभी उन सुखद स्मृतियों की स्मृति हो आती है तो मैं झूम उठती हूँ किन्तु वर्तमान का स्मरण होते ही मैं काँप उठती हूँ। आह ! उस सुख को मैंने स्वयं ही तो अपने हाथों से मिट्टी में मिला दिया, मैंने स्वयं ही तो उन सुखद स्मृतियों को दुःखद बना दिया। आज न जाने क्यों वे सुखद स्मृतियाँ मुझे स्मरण आ रही हैं। लगता है, ये स्मृतियाँ मुझ पर व्यंग्य करने के लिए ही एक-एक करके आती जा रही हैं।

"मेरे विवाह के अभी तीन-चार माह ही हुए थे। किन्तु इस छोटे से काल में ही मैंने अपने पति से वे सभी सुख प्राप्त कर लिए थे, जिनकी मुझे इच्छा थी, अभिलाषा थी। एक दिन वे आए ऊपर से प्रसन्न किन्तु अन्तर से उदास। मैंने उन्हें अपने जीवन में प्रथम बार इस विचित्र मुद्रा में देखा था। मुझे लगा

कि आज कोई नवीन बात अवश्य हो गई है। अन्ततः यह उदास क्यों हैं ? मुझसे रहा नहीं गया। मैंने पूछ ही लिया आज आप कुछ परेशान से लगते हैं ?"

"मैं................" वे हँस पड़े" तुम्हारे होते हुए मैं उदास हो सकता हूँ", उन्होंने ठोड़ी अपनी उँगलियों से उठाते हुए कहा।

"सच कहो, क्या बात है, ऐसे तो कभी नहीं रहे", मैं उनके समीप पहुँच चुकी थी। वे मेरे चिबुक को उठाए हुए थे। मैं उनके नेत्रों में देख रही थी, न जाने कहाँ की करुण व्यथा उनके नेत्रों में भरी हुई थी। उन्होंने मेरे प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। वे मुझे देखते रहे निर्विकार किन्तु सूनी दृष्टि से कुछ क्षण पश्चात् उन्होंने मुझे अपनी बलिष्ठ भुजाओं में भरपूर भर लिया। मेरे अधरों पर अधर रख दिए, मेरे उमड़े हुए अश्रुओं को पोंछ डाला और बोले" शैल, मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगा ! कोई मुझसे तुम्हें छीन नहीं सकता ! मैं सोच नहीं सकता कि तुम मुझसे छूट जाओगी ! क्या यह भी सम्भव है !! तुम्हीं बताओ तुम्हारे बिना मैं रहूँगा कैसे ! कैसे ! बोलो शैल। बोलो तुम................ तुम................इतना कह कर वे फूट कर रो पड़े थे। मैं उनकी भुजाओं में आबद्ध थी, उसी में भूली हुई। उनके अश्रु देखकर मेरी चेतना लौट आई। मैं व्याकुल हो उठी। उनके अश्रुओं को पोंछते हुए मैंने पूछा" "बात क्या है ? मैं कहाँ जा रही हूँ ! मैं और तुम्हें छोड़कर चली जाऊँगी, ऐसा कुत्सित विचार आपके मन में आया क्यों कर ? आप समझते हैं कि मेरे बिना आप नहीं रह सकते तो क्या मैं रह सकती हूँ। कैसी बच्चों जैसी बातें करते हैं आप। यह कहकर मैं फफक-फफक कर रो पड़ी। मेरे अश्रु देख कर वे और भी व्याकुल हो उठे "शैल ! शैल ! मुझे ग़लत न समझो मैं व्याकुल हो उठा था रीता की मृत्यु को देखकर

रीता..........ओ ऽ ऽ ह् वह अपने अनिल को बिलखता छोड़कर चल दी...............”इतना कहकर वह खुलकर रो पड़े।

मैं अवाक् थी। क्या कहा ? रीता नहीं रही। मेरी प्यारी सखी रीता !! अभी पिछले वर्ष ही तो वह विवाह कर आई थी और आज अकस्मात् चली भी गई ! अपने प्यारे पति को छोड़कर। नहीं ऐसा नहीं हो सकता। आप उपहास कर रहे हैं। कल तक तो वह ठीक थी, भली चंगी !! और आज रीता नहीं रही.... कैसे विश्वास करूँ ? मैं उन्हें देख रही थी और वे मुझे, किन्तु दोनों मूक, निःशब्द। मेरे नेत्र उनके मुख पर टिके हुए थे किन्तु मानस पटल पर रीता की मूर्ति उभर-उभर कर आ रही थी। मुझे विश्वास नहीं हो रहा था आखिर रीता की मृत्यु हुई तो कैसे हुई। मैंने भरे हुए गले से कहा “मुझसे ऐसा मजाक न किया कीजिए। रीता को क्यों मारे डाल रहे हो, मरे उसके दुश्मन।”

वह कुछ संयत होकर बोले “शैल, तुमसे मैं मजाक करूँगा और मजाक भी इतना भद्दा, नहीं सचमुच रीता अब नहीं रही। यह ठीक है कि उसकी मृत्यु बड़ी ही आकस्मिक हुई है किन्तु...............”मेरा धैर्य जाता रहा। मैं भी रीता की स्मृति में रो पड़ी। अब मैं रो रही थी और वे चुप रहे थे। वे भूल गए थे अपने प्रश्न को........।”

कितना प्यार करते थे वे मुझे। मेरे सुख से वे सुखी और मेरे दुःख से वे दुखी होते थे। मेरी नींद वे सोते और मेरी नींद वे जागते। न जाने उन्हें क्यों यह विश्वास हो गया था कि ईश्वर किसी के सुख को अधिक दिन नहीं रहने देता। वे सदैव मेरे मुख को निहारा करते। उनके उन नेत्रों में एक मूक प्रश्न होता “क्या यह दिन सदैव ऐसे ही रहेंगे ? क्या तू सदैव मेरी रहेगी ?”

मैं उनके इस मूक प्रश्न को समझकर मुस्कुराते हुए कटाक्ष करती। इंगित से ही कहती "सृष्टि के प्रारम्भ से हम दोनों एक हैं और अन्त तक रहेंगे। हम दोनों का विछोह करायेगा कौन ? किसमें इतना साहस है ! तुम तो मेरे देवता हो।" मेरे इंगित को समझकर वे मौन भाषा में ही कहते "मेरी देवी, मेरी सजनी, मेरी प्रिया............तू तो मेरी सब कुछ है.......मेरी अभिन्न....." और वे मुझे और कस लेते अपनी बलिष्ठ भुजाओं में और फिर अधरों और पलकों का चुम्बन.......... मानों अधर-अधर से, नेत्र नेत्र से हृदय की भाषा में वार्ता करने के पश्चात् परस्पर मिलने को आतुर हो उठे हों। यह मेरी और उनकी मूक वार्ता होती ही रहती थी। भरे भवन में भी नैनों से नैनों की यह बातें हो जाया करती थीं। कितने सुख के दिन थे वे।

एक स्मृति और उभर रही है "जनवरी का महीना था। ठंड पड़ रही थी। हम दोनों रात्रि में एक ही कक्ष में सो रहे थे। रात्रि के लगभग बारह बजे होंगे। मैं उस दिन उनसे मधुर आलाप करते-करते सो गई थी। किन्तु न जाने कहाँ से मैंने एक दुःस्वप्न देखा। मैंने देखा कि मैं किसी अज्ञात उपवन में एक पुरुष के साथ घूम रही हूँ। मैं ठीक प्रकार से उसे पहचानने की चेष्टा करती हूँ किन्तु वह पुरुष मेरा पति नवल नहीं। ज्ञात नहीं कौन है वह ? भरा हुआ बदन, ऊँचा मस्तक, बड़े-बड़े नेत्र, फूले हुए कपोल, विशाल वक्षस्थल, लम्बी भुजाएँ बड़ा ही आकर्षक व्यक्तित्व था। मैं उस पुरुष को अपलक देख रही थी, ठगी-सी, आत्मविस्मृत-सी..........वह पुरुष मेरे देखते-देखते मेरे समीप आकर खड़ा हो जाता है—बिल्कुल मुझसे सट कर किन्तु तो भी मैं उससे दूर नहीं होती। उसके स्पर्श से मुझे आनन्द होता है, एक अनिर्वचनीय आनन्द। मुझे मौन देखकर वह झपटकर मुझे अपने आलिंगन में ले लेता है। म भी मतवाली-

सी अपनी भुजाओं को उसके कंठ में डाल देती हूँ............वह पूर्ण रूप से मुझे आक्रान्त कर लेता है और मैं भी उसी प्रकार उसके आलिंगन पाश में आबद्ध हो जाती हूँ जैसे किसी वृक्ष से लता लिपट जाती है।............वह मेरे अरुण अधरों पर अपने तृप्त अधर रख रहा है और मैं अभिभूत-सी उसे अपने प्रस्फुटित अधरों की अरुणिमा को पान करने का आमन्त्रण दे रही हूँ, नेत्रों के संकेत के द्वारा। वह मेरे संकेत को समझ रहा है और मेरे सम्पूर्ण मुख मण्डल पर चुम्बनों के द्वारा अपने प्रेम की मोहर लगा देना चाहता है, मुझे भी कोई विरोध नहीं, उल्टे मैं उसे प्रतिदान दे रही हूँ। मैं उसके आलिंगन में अपने को भूलती गई, भूलती गई और न जाने किस समय मैं आत्मविस्मृत हो, उसी में खो गई।............इसी समय मुझे लगा कि दूर पेड़ के पीछे से कोई छिप-छिप कर मेरी सम्पूर्ण कार्यविधि को देख रहा है।"..................... मैं कुछ सशंकित हुई, खुली आँखों से देखना चाहा............अरे यह तो मेरे पति हैं नवल! क्या मैं अपने पति के आलिंगन में अभी तक नहीं थी? नहीं! तो नवल मेरा पति नहीं है, यही वज्र पुरुष मेरा पति है, मेरी सम्पूर्ण चेतना इसी को चाहती है............ मैं नवल से घृणा करती हूँ मैं अब भी आलिंगनबद्ध थी। इसी समय मुझे लगा नवल हम दोनों के सामने आकर खड़ा हो गया। उसके हाथ में एक छूरा था, तेज, चमचमाता हुआ। मैंने देखा, काँप गई। भय के मारे मैं उस पुरुष के बाहुओं से निकल कर दूर जा खड़ी हुई। नवल ने क्रूर दृष्टि से मेरी ओर देखा और बिना कुछ कहे उसने उस पुरुष पर उस छूरे से आक्रमण कर दिया।" यह दृश्य देखकर मेरे मुख से अकस्मात् ही चीख निकल गई और मैं उठ बैठी। मेरी चीख सुनकर मेरे पति देव भी जग गए थे। मैं उस जाड़े की रात्रि में भी पसीने से पूर्ण रूप से भीगी हुई थी। मेरी घिग्घी

बधी हुई थी। मेरे पति देव मुझे शान्त करते हुए पूछ रहे थे "क्या हुआ शैल ? क्या हुआ ?" मैं क्या बताऊँ ? कितना भयानक स्वप्न था। मैं अब भी काँप रही थी। भयानक स्वप्न की बात कहकर मैंने पति को शान्त किया किन्तु मैंने उन्हें स्वप्न नहीं बताया था..................किन्तु मुझे उस समय क्या ज्ञात था कि यह स्वप्न नहीं सत्य है। काश, यह स्वप्न कभी सत्य न होता !

इसी से सटी हुई एक स्मृति और उभर आती है। "मैं अपने पति के साथ चलचित्र देखने गई थी। कोई अंग्रेजी चलचित्र था। शायद् महर्षि टालसटाय का "अन्ना केरे निना" था। बड़ी विचित्र कथा थी उस चित्र की। किस प्रकार एक विवाहित पत्नी अपने प्रिय पति और अपने एक पुत्र को त्यागकर एक दूसरे पुरुष के साथ भाग जाती है, किन्तु उस पुरुष के समीप पहुँचकर भी उसे चैन नहीं मिलता, संतोष नहीं मिलता और अन्त में उसे संसार से निराश होकर आत्महत्या कर लेनी पड़ती है। इस चित्र का मेरे मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा था मैं इस चित्र से अपने उस स्वप्न की तुलना कर रही थी। मैं घर लौटते समय एकदम गम्भीर हो गई थी। मेरे पति मेरे बगल में ही बैठे कार ड्राइव कर रहे थे। कुछ क्षण वे मेरी ओर देखते रहे, कुछ बोलने की प्रतीक्षा में, किन्तु मैं चुपचाप शान्त चित्त से पाषाण-प्रतिमा की भाँति निश्चेष्ट, निर्विकार बैठी थी। मेरी उस मुख मुद्रा को देखकर वे हंस पड़े। बोले "क्या अन्ना से अपनी तुलना करने लगीं।"

मुझे यह व्यंग्य बहुत तीक्ष्ण लगा। मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया केवल उन्हें अश्रु भरे नेत्रों से घूरने लगी। न जाने किस व्यथा के कारण मेरे अश्रु छलछला आये थे। वे मेरे इस व्यवहार से व्याकुल हो उठे। एक हाथ से वे कार को चलाते रहे और दूसरे

से उन्होंने मुझे अपनी ओर खींच कर अपने नितम्ब पर मेरे सिर को टिका दिया। मैं चुपचाप उसी अवस्था में पड़ रही। मैं स्वयं नहीं समझ पा रही थी कि अन्ततः मैं आज व्यर्थ ही इतनी व्याकुल क्यों हूँ, क्यों मेरे नेत्रों में अश्रु छलछला आए हैं? वही पुराना स्वप्न स्मरण हो आता था। मैं सोच रही थी क्या मैं भी कभी अपने पति को त्याग कर जा सकती हूँ यदि वह स्वप्न सत्य है तो हाँ। फिर मेरी दशा क्या होगी? क्या अन्ना की भाँति मुझे भी आत्महत्या करनी पड़ेगी? नहीं, यह सब झूठ है, वह स्वप्न था, असत्य था, मेरा भ्रम था। मैं अपने आप बड़-बड़ा उठी। पति ने मेरे अधरों पर अपने करों की उँगलियों से स्पर्श करते हुए पूछा "क्या बड़बड़ा रही हो शैल क्या रूठ गईं मुझसे? मैंने तो ऐसे ही प्रश्न किया था। मुझे क्या मालुम था कि मेरी रानी, मेरी सहचरी, मेरी प्राणप्रिया एकदम मुझसे इतना रुष्ट हो जावेगी। वे यह कहते जा रहे थे और उनकी उँगलियाँ मेरे अधरों, कपोलों और केशों को मतवाला बनाती जा रही थीं। घर पहुँचते-पहुँचते मैं संयत हो चुकी थी, धीर, गम्भीर और शान्त! उस दिन रात्रि में हम दोनों ने अत्यन्त अल्प वार्तालाप किया। सिर भरी होने के कारण मुझे शीघ्र ही निद्रा भी आ गई थी। किन्तु रात्रि में अपने पति की भारी भरकम काँपती हुई ध्वनि सुनकर मैं उठ बैठी थी। मैंने देखा कि मेरे पति निद्रा में ही बड़-बड़ा रहे हैं "नीच कुत्ते! छोड़ दे!! नहीं छोड़ा..........गोली मार दूँगा।" मैं घबड़ा गई। पुकारा। वे आँख मलते हुए उठ बैठे। वे मुझे घूर-घूर कर देख रहे थे। मेरे कुछ समझ में न आ रहा था। मैंने पूछा "क्या बात थी, अभी आप क्या बड़बड़ा रहे थे, क्या स्वप्न देख रहे थे?"

उन्होंने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा "हाँ, स्वप्न ही तो था। क्या मैं चीख पड़ा था। ओह! कितना भयानक स्वप्न था।

मुझे लगा कोई मुझसे तुम्हें छीने लिए जा रहा है और मैं उससे तुमको छुड़ाने के लिए संघर्ष कर रहा हूँ। इसी समय तुमने मुझे झकझोर कर जगा दिया। मैं समझ नहीं पाया कि कौन था? क्या था?

उनकी बात सुनकर मैं काँप उठी थी। मुझे अपना स्वप्न स्मरण हो आया था। मैं अपनी शिक्षा और अहं के कारण ईश्वर में अविश्वास करने लगी थी। मेरा विश्वास था कि ईश्वर में विश्वास कायर और अशिक्षित करते हैं। मुझ-सी विदुषी और सुशिक्षित महिला के लिए ईश्वर में विश्वास करना निश्चित रूप से लज्जा की बात थी। मैं बड़े गर्व से अपने को नास्तिक कहती थी। मेरी अन्य सखियों में इसी कारण मेरा विशेष सम्मान था। मुझे आज यह कहते हुए लज्जा आती है कि हम पाश्चात्य सभ्यता में अपने को इतना अधिक रँग चुके थे कि हमें अपनी सभ्यता, अपनी संस्कृति एवं अपने धर्म के प्रति घृणा उत्पन्न होने लगी थी। उस समय हम सभी अंग्रेज महिलाओं का अनुकरण करने में ही गर्व का अनुभव करती थीं। उनसा बोलतीं, उनसा खातीं, उनसा आचरण करतीं और भगवान् की कृपा से मेरा रंग रूप भी उनसा ही था। मुझे अपने को भारतीय समझने में ही घृणा होती थी। मैं कहाँ से कहाँ आ गई। हाँ, उस समय पति के स्वप्न की बात सुनकर मेरी नास्तिकता काफ़ूर हो गई थी और मेरे मुख से अनायास ही निकल गया "हे ईश्वर! हम लोगों की रक्षा करना।"............ इस घटना के काफी दिनों तक मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करती रही थी। किन्तु मुझे क्या पता था कि ईश्वर किसी की नहीं सुनता। यदि वह है तो तानाशाह है, डिक्टेटर है, अपने मन की करने वाला है। अन्यथा वह है ही नहीं।

शनैः शनैः समय व्यतीत होता गया और यह स्मृतियाँ, यह

स्वप्न, ये घटनाएँ भी धूमिल होती गईं। इसी समय मुझे लगा कि मेरा शरीर कुछ भारी होता जा रहा है। डग भी भारी हो रहे थे। मिचली आने लगी थी और मेरा अप्रतिम सौन्दर्य कुछ क्षीण होता जा रहा था। मुझे लग रहा था कि मेरा उदर अन्य सभी अंगों से कुछ अधिक बढ़ रहा था। मुझे अपनी यह आकृति स्वयं भद्दी लग रही थी। मैं सोचती यह कहाँ की बला मेरे सिर आ पड़ी। मैं समझ रही थी कि कुछ नवीन होने वाला है, वह कुछ होने वाला है जो अभी तक मेरे नहीं हुआ। इस नवीन घटना के प्रति एक नवीन कुतूहल था मुझमें। मुझे यह ज्ञात हो गया था कि मैं माँ बनने वाली हूँ। माँ! कितना पुनीत शब्द है, कितनी कोमलता, कितना स्नेह और कितना ममत्व है केवल इस एक शब्द में। तो क्या मैं सचमुच माँ बनने जा रही हूँ? मैं ममत्व की मूर्ति, प्रेम की प्रतिमा। मेरे समझ में नहीं आ रहा था कि माँ के ये सभी दैवीगुण मुझमें कहाँ से आ जावेंगे? क्या मैं एक आदर्श माँ हो सकूँगी। इसी समय एक प्रश्न और सामने आ गया। क्या मैं एक आदर्श पत्नी हूँ? आदर्श पत्नी! निश्चित रूप से मैं एक आदर्श पत्नी हूँ। मैंने आज तक पत्नी धर्म की मर्यादा का निर्वाह किया है, मैंने आज तक अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष की आराधना नहीं की, किसी अन्य पर ध्यान नहीं दिया। किन्तु यदि मैंने पर पुरुष का ध्यान नहीं किया तो यह स्वप्न के संकेत कैसे? स्वप्न में पर पुरुष से मिलन क्यों? मैंने सुना है हिन्दू नारी स्वप्न में भी पर पुरुष का स्मरण नहीं करती। फिर मैंने क्यों किया? निश्चित रूप से मेरे मन में कोई विकार रहा होगा। इसी विकार का तो फल था वह स्वप्न प्रायः अचेतन मन में पड़े हुए अतृप्त आकांक्षाओं का सुसुप्तावस्था में दिग्दर्शन मात्र ही होता है। तो कन्या पर पुरुष के आलिंगन की इच्छा मेरे हृदय में, मेरे अचेतन मन में कभी जगी है।..........

छोड़ो भी..............इन रूढ़िवादी बातों में आज क्या रखा है। मैं इतना समझती हूँ और दावे के साथ कह सकती हूँ कि मैं एक आदर्श पत्नी हूँ, आदर्श माता मैं हो सकूँगी अथवा नहीं, यह मुझे अभी ज्ञात नहीं और न मैं ही यह ज्ञात करने को उतनी उत्सुक ही हूँ।

यदा कदा एक और इच्छा मेरे मन में उठती थी उस समय। क्या होगा पुत्र या पुत्री यह जानने की इच्छा। किन्तु अधिक दिनों यह इच्छा भी स्थायी न रह सकी। मैं अपने शरीर से दिन पर दिन परेशान होती जा रही थी। पति से परेशानी कहती वे हँस देते, कपालों को स्पर्श करते हुए कहते "माँ बनना सरल नहीं है लाडो।" मैं शरमा जाती, लजा जाती। यों ही दिन व्यतीत होते गए और एक दिन मैं सचमुच माँ बन गई। माँ बनने के पूर्व की वेदना का मुझे ध्यान है और माँ बन जाने के पश्चात् के आनन्द का। किन्तु मैं माँ किस समय बन गई, यह मुझे ध्यान नहीं है। सुना है उस समय मैं मूर्च्छित हो गई थी, जब चेत हुआ तो मैं माँ बन चुकी थी, एक चाँद-सा छौना मेरे परिपार्श्व में पड़ा किलक रहा था। इसके पश्चात् तो मैं भूल गई अपने को अपनी-पूर्व की स्मृतियों को, यहाँ तक अपने पति को भी। मुझे केवल अपने उस लाड़ले का ही ध्यान था। मैं उसे पाकर माँ बन गई थी। माँ। सचमुच माँ बन गई थी। शनैः-शनैः मेरा लाड़ला बढ़ता गया। किन्तु यह क्या अभी प्रथम पुत्र की अवस्था तीन वर्ष की भी न हुई थी कि फिर मेरी प्रथम-सी दशा हो गई। किन्तु इस बार मैं घबड़ाई नहीं। एक बार का अनुभव जो था मुझे। इस बार मेरे पुत्री हुई। इस पुत्री के दो वर्ष पश्चात मेरे पुनः एक पुत्र हुआ, इस प्रकार मेरे कुल तीन सन्तानें हुईं। मुझे अब सन्तानों की चाह नहीं रही थी, माँ बनना और उसका निर्वाह करना कितना कठिन कार्य होता है, यह मुझे अब ज्ञात

हो चुका था। मेरा मोह सन्तानों के प्रति था, अतः स्वाभाविक था, कि मैं पति का अधिक ध्यान न रख सकूँ। पति भी इधर कुछ मुझसे दूर रहने लगे थे। दूर इच्छा से। नहीं परवशता से उन्हें माह में पंद्रह दिन बाहर रहना पड़ता था अपनी नौकरी पर। इन दिनों मैं अपने को अधिकांशतः बच्चों में उलझाए रखती थी। किन्तु यह भटकाव अधिक दिनों नहीं चल सका। अब मैं स्वयं अपने बच्चों को आया को सौंप कर अपनी सखी-सहेलियों से मिलने निकल पड़ती थी मनोरंजन के लिए। इसी समय लगभग दो माह के पश्चात् मेरे पति बाहर दौरे से आए। मुझे उदास देख कर उनका मन व्याकुल हो उठा, वे बोले शैल, क्या करूँ नौकरी ही ऐसी है कि मैं चेष्टा करने पर भी तुम्हारे साथ सदैव नहीं रह सकता। मैं तुम्हारी उदासी का कारण समझता हूँ, किन्तु प्रिय तुम्हीं बताओ मैं करूँ भी तो क्या ?" इतना कह कर वे मुझे निहारने लगे। उनकी इस निरीहता को देखकर मुझे हँसी आ गई। मुझे लगा ठीक ही तो कह रहे हैं। इसमें इनका क्या दोष है। ये बेचारे हम सभी के लिए ही तो अपनी काया को होम कर रहे हैं। फिर इस बात के लिए इनसे मेरा रूठना कहाँ तक उचित है ? मैंने कुछ रुक कर उत्तर दिया "आप व्यर्थ व्याकुल हो रहे हैं" मैं इस कारण से उदास तो थी नहीं मेरे लिए आप बने रहें, सभी कुछ हो जावेगा। विवाह के नौ वर्ष हो गए। आज कोई मैं नयी नवेली तो हूँ नहीं, जो मैं आपकी पूँछ बनी फिरती रहूँ। आपने मेरी इस छोटी सी उम्र में ही मेरी सभी मनोकामनायें पूर्ण कर दी हैं। अब मैं इच्छा करूँ भी तो किस वस्तु की। मैं इतना कह कर उनके वक्षस्थल पर भुज वल्लरी डालकर लटक गई। उन्होंने भी अपने बाहुओं में मुझे पूर्ण रूप से समेट लिया और फिर.........
फिर कटुता, उदासीनता और व्याकुलता के बादल हम दोनों के मध्य से स्वयं ही तिरोहित हो गए।

निश्चय हुआ आज हम दोनों चौपाटी भ्रमण को चलेंगे। मालाबार हिल्स, एवं उस पर स्थित गार्डेन के भ्रमण को भी योजना बन गई। हम दोनों ठीक तीन बजे भ्रमण को निकल पड़े। फोर्ट मार्केट का पार। करती हुई हमारी कार चौपाटी पर पहुँच गई। अभी चौपाटी पर वह रौनक न थी। कुछ खोंचे वाले आ गए थे। कुछ लोग खड़े मछली पकड़ने का खेल देख रहे थे। कुछ लोग सागर की गरजती हुई लहरों को देख रहे थे। एक के बाद दूसरी लहर उसी प्रकार आती जा रही थी, जिस प्रकार एक के बाद दूसरा दिन आ जाता है। मालाबार हिल्स पर पहुँचकर हम लोगों ने कार छोड़ दी। अब हम दोनों पैदल ही "कमला नेहरू गार्डेन" की ओर बढ़ रहे थे। वास्तव में उस स्थान की सुन्दरता अद्वितीय थी। मैं कई बार पति के साथ उस स्थान पर भ्रमण कर चुकी हूँ, जब भी आई हूँ, मुझे उसमें एक नवीन आकर्षण, मनोरमता और सुन्दरता दीख पड़ी है। आज तो मुझे यह उपवन और भी अधिक मोहक लग रहा था। यह मोहकता बहुत कुछ वैसी ही थी, जिस प्रकार दुःख के पश्चात् किंचित् सुख का आभास बड़ा सुखद होता है। आज मैं पूरे दो माह के पश्चात् पति के साथ घूमने निकली थी, फिर क्यों आज इतनी प्रसन्न न होती। मैं आज चहक रही थी, मेरे पति भी आज विशेष प्रसन्न थे। इसी समय मैं दौड़ती हुई उपवन के सर्वोच्च शिखर पर जा खड़ी हुई। पति ने मेरा पीछा किया और मेरा आंचल थाम लिया। मुझे यह बड़ा भला लगा। अब मैं पहाड़ी के एक खण्ड पर खड़ी थी और उससे ठीक नीचे मेरे आँचल थामे मेरे पति खड़े थे। यह कितना सुन्दर दृश्य था। एक ओर सागर की गहनता और दूसरी ओर पर्वत की महानता। दोनों एक समीप, एक साथ, परस्पर हिले मिले से गलबाही डाले हुए एक ही स्थान पर स्थित।

मुझे ऐसा लगा कि सागर इतरा-इतरा कर अपनी लहरों से पर्वत को काट डालना चाहता है, ढकेल देना चाहता है। किन्तु पर्वत है अपने में अलिप्त, निर्विकार, ध्यानमग्न योगी की भाँति अचल। उस पर सागर की लहरों का कोई प्रभाव नहीं होता, वैसे ही जैसे ध्यानमग्न शंकर पर काम के किसी भी बाण का प्रभाव नहीं होता। कितना अद्भुत है, प्रकृति के दो गम्भीर रहस्य एक साथ ला खड़े किए गये हैं। सागर अपने अन्तस में रहस्य छिपाये है तो पर्वत अपनी चट्टानों के बीच। किन्तु मुझे लगा कि यह दोनों एक दूसरे के रहस्य को जानते हैं, दोनों एक दूसरे से पूर्ण परिचित हैं, शत्रु नहीं, मित्र हैं। दोनों परस्पर मूक बातें भी करते हैं। पर्वत अपने वृक्षों को हिलाकर सागर की बात पर हुंकारी भरता है और सागर अपनी लहरों का हाहाकार मचाकर अपनी व्यथा को पर्वत को सुना देना चाहता है। कितना स्नेह है इन दोनों में। दोनों ही मूक रहते हुए भी एक दूसरे के दुःख से परिचित हैं, जैसे हम पति पत्नी मूक रहते हुए भी भरे भवन में भी नैनों से बात कर लेते हैं। मैं ध्यान मग्न यही विचार कर रही थी कि अपने पति की कोमल झिड़की सुनकर मेरा ध्यान भंग हुआ। वे कह रहे थे "शैल, कहाँ खो गई। अरे मैं भी साथ हूँ। मुझे भी साथ ले-ले न।" इतना कहकर मेरे कंधे पर हाथ रखकर वे मेरे समीप ही खड़े हो गए। लगभग एक घंटे तक हम दोनों इसी प्रकार विचरण करते रहे। हम लोग वहाँ से प्रत्यावर्तन का विचार कर ही रहे थे कि हम किसी का कंठ स्वर सुनकर रुक गए। पीछे कोई मेरे पति को पुकार रहा था। घूमकर देखा दो पुरुष और एक स्त्री हम लोगों की ओर लपके चले आ रहे हैं। उसमें से एक सज्जन कह रहे थे "खूब मिले नवल, तुम तो ईद के चाँद से भी अधिक हो गए हो भाई। कहाँ रहे इधर।" मेरे पति ने उत्तर दिया, "इधर बाहर ही रहना हुआ था, इसी से

मिल न सका। 'हाँ, मैं तो भूल ही गया, आपका परिचय कराने को।" मेरी ओर घूम कर संकेत करते हुए उन्होंने कहा, "यह हैं हमारी श्रीमती जी·········शैवालिनी, वैसे मैं इन्हें प्यार से शैल ही कहता हूँ·········" उनकी यह बात सुनकर मैं लजा गई थी, किन्तु तुरन्त उन्होंने अपने मित्र का परिचय दिया, और यह हैं, हमारे मित्र कमान्डर यज्ञदत्त····" मैंने हाथ जोड़ कर उनका अभिवादन किया। इस परिचय के पश्चात् भी अभी दो व्यक्ति वहां अपरिचित रह गए थे। उनका परिचय दिया कमान्डर यज्ञदत्त ने "आपसे मिलिए, आप हैं मिस्टर प्रेम बम्बई के प्रसिद्ध उद्योगपति, और आप हैं मिस मणि आपकी छोटी बहन।" मैंने उन दोनों का भी हाथ जोड़ कर अभिवादन किया। मेरे पति अपने नवपरिचित मित्र प्रेम से परिचय बढ़ा रहे थे, अतः मैं भी मणि के समीप खिंच आई। हम दोनों की कुछ ही क्षणों में घनिष्ठता हो गई। बिछड़ते समय मुझे ऐसा लगा कि हम युगों-युगों से एक दूसरे से परिचित हैं। मैं आज विचारती हूँ कि काश ! उस दिन यह परिचय न हुआ होता, तो मैं कितने सुख से होती। न जाने किस कुक्षण में इन लोगों से मेरा परिचय हुआ था। जिससे मेरा और उनका दोनों का ही विनाश हो गया। अब दुःख करती हूँ किन्तु उस समय मैं कितनी प्रसन्न थी, कह नहीं सकती। आगे की कहानी सुनकर मेरी प्रसन्नता का भास आप स्वयं पा लेंगे।

दस दिन रह कर मेरे पति पुनः दो माह के लिए चले गए। मैं फिर अकेली रह गई। इस बार जब मैं अपने पति को विदा करने लगी तो न जाने क्यों मेरे हृदय में एक विचित्र प्रकार का द्वन्द्व होने लगा। एक ओर कर्तव्य था तो दूसरी ओर वासना। मुझे लगा कि कर्तव्य व्यर्थ का बन्धन होता है। जीवन बन्धन में पड़ कर व्यर्थ हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार सारिका पिंजड़े में बन्द होकर अपनी स्वच्छन्दता खोकर व्यर्थ हो जाती है।

वास्तव में जीवन का आनन्द तो उन्मुक्तता में है, स्वच्छन्दता में है। और मैं ही बन्द क्यों रहूँ। मैं भी तो अपने पति की भाँति ही एक सचिन्तनशाली प्राणी हूँ, अपने दुःख सुखों से परिचित। केवल यही तो कि मैं नारी हूं और वे नर। वे नर हैं इस कारण उन्हे अधिकार है, वे जहाँ चाहें विचरण करें, स्वच्छन्द विहार करें, उन्मुक्त घूमें, कोई कुछ कहने वाला नहीं। और एक मैं हूँ उनकी अनुपस्थिति में घूम नहीं सकती, अकेले जाना अपराध है, कलंक लगने का भय है, क्यों ? मैं स्त्री हूँ इस कारण से न ? कलंक ! मैं कलंक से नहीं घबड़ाती, उन थोथी मान्यताओं से नहीं घबड़ाती जो मुझ पर बलात् लादी जाना चाहती है। मैं ऐसे समाज पर थूकती हूँ, इसकी किंचित् मात्र चिन्ता नहीं करती। अब मैंने भी निश्चय कर लिया है, मैं भी घूमूँगी, स्वच्छन्द, उन्मुक्त, जाने दो इन्हें। मैंने जाते हुए पति की ओर घृणा से देखा। पति ने भी मेरी ओर घूमकर देखा। आँखें चार हो गईं। न जाने मेरे नेत्रों में क्या आकर्षण था कि वह मार्ग से ही लौट आए पुनः मेरे पास। मैं द्वार पर खड़ी थी, उन्होंने मुझे खींच कर कमरे में कर लिया। मुझे लगा कि यह कुछ कहना चाहते हैं। उन्होंने मेरे हल्के फुल्के शरीर को अपनी बाहों में भर लिया। मेरे अधरों का रस वे अधरों से पान करते हुए कुछ काँप रहे थे। न जाने आज वे क्यों इतना अधीर हो रहे थे। उनका आलिंगन पाश कठोर ही होता जा रहा था। मैं उस में बुरी तरह जकड़ी जा रही थी। न जाने आज उन्हें क्या हो गया था। इतनी अधीरता से उन्होंने आज तक मुझे कभी भी आलिंगनपाश में आबद्ध नहीं किया था। अन्ततः उनके अधरों पर मैंने अपनी उँगलियाँ रखते हुए फुसफुसाते हुए कहा, "यह क्या हो गया है आज आपको ? क्यों आप इतने अधीर हो उठे हैं।" उन्होंने मेरे कपोलों पर, नेत्रों पर, मस्तक पर चुम्बन लेते हुए कहा, "न जाने मुझे क्या हो गया है शैल। मुझे स्वयं नहीं ज्ञात

हो सका। मैं क्यों लौट पड़ा, यह भी मैं नहीं जानता। न जाने मैंने तुम्हारे नेत्रों में क्या कुछ देखा कि मैं अधीर हो उठा। मुझे लगा कि अपनी शैल को न जाने अब कब देख पाऊँ! देख भी पाऊँ या न पाऊँ! प्रिय! यह प्रश्न मस्तिष्क में क्यों उठा, यह मैं स्वयं नहीं जानता। मैं यह जानता हूँ कि मैं युद्ध पर नहीं जा रहा हूँ; मैं यह भी जानता हूँ कि मैं दो माह में ही पुनः वापस आ जाऊँगा, किन्तु यह सब जानते हुए भी मैंने न जाने कौन सा अज्ञात किन्तु मूक संकेत तुम्हारे नेत्रों में पाया, जिससे मैं अपने को रोक न सका, अपनी अधीरता को गुप्त न रख सका। शैल! मुझे क्षमा करो॥ मैं मैं·······" इतना कह कर वे एकदम मुझे छोड़कर हट गए। मैंने उन्हें ढाँढस बँधाना चाहा, आश्वासन देना चाहा किन्तु न जाने क्यों, मैं उस समय बोल ही न सकी। वे उत्तर की आशा में कुछ क्षण खड़े रहे फिर न जाने क्या विचार कर चल दिए कार की ओर। मैंने साहस करके बिदा देने के लिए हाथ उठाया। मैं टा····टा····कहना चाहती थी, किन्तु कह न सकी। केवल हाथ उठा कर ही रह गई। किन्तु मेरे इस संकेत से ही वे प्रसन्न हो उठे। मानों उनका सम्पूर्ण कलुष धुल गया हो। उनकी सम्पूर्ण उदासीनता, कातरता द्रवित होकर बह गई हो। उन्होंने प्रसन्न मुद्रा से हाथ उठाते हुए मेरी विदाई का उत्तर देते हुए कहा, "टा टा" और वे अपनी कार में बैठ कर मेरे नेत्रों से ओझल हो गए। उनके चले जाने पर भी मैं पाषाण प्रतिमा की भाँति वहीं खड़ी रही। मुझे स्वयं स्मरण नहीं उस समय मैं क्या विचार कर रही थी, विचार कर भी रही थी अथवा निर्विकार निश्चेष्ट अनिर्दिष्ट पथ की ओर व्यर्थ ही अपने अध-खुले नेत्रों को बिछाए हुए थी।

पति को गए दो दिन हो गए थे। इन दो दिनों में घर में ही पड़ी रही। अपनी ही ज्वाला से जलती रही। मैं नहीं समझ पा

रही थी कि मैं क्या करूँ। मेरा मन विद्रोही हो रहा था। मैं जितना ही अपने मनोवेग को दबाने की चेष्टा करती, उतने ही कुत्सित विचार मेरे मस्तिष्क में व्याप्त होते जाते। मुझे सम्पूर्ण संसार के पुरुष वर्ग से घृणा होती जा रही थी। मैं विचार रही थी कि नारी को इस धूर्त समाज ने परवश,पराधीन बना रखा है,अपनी भोग्य सामग्री समझ रखा है, किन्तु मैं इस सबका विरोध करूँगी। मैं नारी नहीं विद्रोहिणी हूँ, मैं आग उगलने वाली रणचंडी हूँ, फुफकारने वाली नागिन हूँ, मैं पुरुष के स्वार्थ को डस कर नारी जाति को स्वाधीन करने के लिए ही उत्पन्न हुई हूँ। नारी का क्षेत्र केवल घर ही नहीं संसार भी है। वह पुरुष से किस बात में कम है? फिर वह पुरुष से पीछे रहे भी क्यों? नवल.......मेरा पति नहीं अब मेरा कोई पति नहीं। ये पुरुष मात्र कामी होते हैं, स्वार्थी, नीच, कुत्ते। इन कुत्तों की जाति में मैं आना नहीं चाहती।.......मैं इसी प्रकार की बातें दो दिनों तक विचारती रही, किन्तु किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकी। कभी मैं अपनी इस एकान्त अवस्था के लिए अपने पति को दोषी ठहराती, कभी समाज को, तो कभी सम्पूर्ण नारी जाति को ही। कभी विचारती इसमें किसी का भी तो दोष नहीं है। कौन मुझे रोकता है स्वच्छन्द विचरण करने से। कोई भी तो नहीं। मेरे पति तो देवता हैं, उन्होंने कभी भी तो नहीं रोका मुझे, वे तो स्वयं ही कहा करते हैं,"शैल! तू मेरी अनुपस्थिति में प्रातः भ्रमण न छोड़ा कर। इससे तेरा स्वास्थ्य बना रहेगा। हाँ! संध्या समय भी बच्चों के साथ लेकर टहल आया कर।" कितनी आत्मीयता से कहते हैं वे। फिर मेरा उन पर क्रोध क्यों? मैं इसी उधेड़ बुन में पड़ी थी, कि मणि आ गई, प्रेम की बहन मणि। मैं उस दिन के पश्चात् आज ही उससे पुनः मिल रही थी। वह आयी। मेरी रोनी सूरत देखकर वह हँस पड़ी। "वाह भाभी, क्या रोनी शक्ल बना रखी है। कोई देखे तो जान जाय

कि भैय्या स्वयं तो परदेश गए हैं और भाभी का मन साथ लेते गए हैं। खाली कंचन काया को यहां छोड़ गए हैं," उसने मेरा मुख ऊपर उठाते हुए यह सब कह डाला। मैं लजा गई। उसके बैठने का प्रबन्ध किया। मुझे लगा वास्तव में इसी का जीवन सफल है, कितनी उन्मुक्त है यह, कितनी स्वच्छन्द, कितनी आनन्दित।

वह मुझे चिड़काते हुए बोली "वाह भाभी। आप भी खूब हैं। दिन भर घोंसले में बन्द, कभी बाहर भी तो निकला करें। क्या बाहर की हवा डाक्टरों ने बन्द कर दी है, या उससे जुकाम हो जाता है।" इतना कह कर वह कुछ रुकी फिर हँसते हुए बोली, "अरे मैं समझी, भैया जी ने मना कर दिया होगा। हाँ, ठीक ही तो है। मना क्यों न करें। कोई उड़ा ले जाय इस परी को। फिर ऐसी परी कहाँ धरी है।" इतना कह कर उसने मेरे कपोलों पर चुटकी काट ली। उसकी मुख मुद्रा देखकर मुझे भी हँसी आ गई। मैं बोली,"जाऊँ तो जाऊँ कहाँ ? तू आज पूछने आई है। बोल इतने दिन रही कहाँ ? मैं तो नित्य तेरी प्रतीक्षा किया करती थी। मुझे तूने अपना पता भी तो नहीं दिया था, जो मैं तेरे यहाँ पहुँच सकती।" मैं अब लगी उसे ही बनाने, मेरी यह बात सुनते ही मणि ने अपने हाथ जोड़ते हुए मुझसे कहा, "भाभी, क्षमा चाहती हूँ क्षमा करो और मेरे साथ चलकर मेरे घर को पवित्र करो। हाँ, और यदि आज मेरे साथ आप न गईं तो मैं यही समझूँगी कि आपने मुझे क्षमा नहीं किया।" उसका यह प्रस्ताव सुनकर मैं प्रथम तो सकुचाई फिर चलने को तैयार हो गई।

जिस समय मैं मणि के बँगले पर पहूँची, कोई पाँच बजा होगा। मणि मुझे खींचती हुई अन्दर ले गई। उस समय इतने बड़े बंगले में मणि के अतिरिक्त मुझे कोई भी स्त्री दीख नहीं

पड़ी। "आपके माता, पिता, भाई, भाभी आदि कहीं बाहर गए हैं क्या ?" मेरा प्रश्न सुनकर वह हँसी। बोली "माता, पिता तो इस बंगले में रहते नहीं, वे एक दूसरी कोठी में रहते हैं। इस बंगले में केवल मैं अपने भैय्या के साथ रहती हूँ। और रही भाभी की बात, वह तो आ ही गई है, "मेरे कपोलों पर कचोट लेते हुए उसने हँसते-हँसते अन्तिम बात कह दी। यद्यपि यह वाक्य उपहास ही में कहा गया था, किन्तु इससे मुझे कुछ बुरा लगा। मैंने कुछ तीक्ष्ण स्वर में कहा, "मैं तुम्हारी भाभी के लिए पूँछ रही हूँ। प्रत्येक बात में मुझे क्यों खींच लेती है तू। मैं तेरे बंगले में आने से रही। मैं कहने को तो यह कह गई, किन्तु मणि का उतरा हुआ मुख देखकर मुझे स्वयं अपनी बात पर दुःख हुआ। मैंने तुरन्त बात सुधारते हुए कहा, "मुझे ऐसे ही इस बँगले में ले आने वाली है। भाभी मुफ्त में ही चाहती है। भाभी को लाने के लिए नन्दों को मूल्य देना पड़ता है........" इतना कहकर मैंने मणि को अपने समीप खींच लिया। मणि मेरी बात सुनते ही खिलखिला कर हँस पड़ी। उसने कहा, "भाभी, मैं जानती हूँ। मैं तो भैय्या से कहती हूँ, एक गुड़िया सी भाभी ले आओ। जो परी सी सुन्दर हो बिलकुल तुम्हारे ऐसी। ऐसी भाभी मिल जाय तो मैं अपने प्राण भी दे सकती हूँ। और अधिक क्या कहूँ, भाभी!" मुझे लगा कि मणि के हृदय में भी कोई व्यथा घर किए हुए है। इस समय केवल मैं यही विचार कर रही थी, "क्या सचमुच यह एक भाभी पाने के लिए इतनी व्याकुल है, यदि सत्य है तो अभी तक इसे भाभी मिली क्यों नहीं, इसके भैय्या तो देखने में दूसरे कामदेव लगते हैं। मैंने उस दिन प्रथम भेंट के समय उन्हें ठीक से देखा तो नहीं था, किन्तु मुझे इतना स्मरण है कि वह साधारण पुरुषों से अधिक सुन्दर हैं। फिर....फिर.... क्या वे विवाह नहीं करते? और क्यों? इस क्यों का उत्तर

मैंने मणि से जानना चाहा। "क्यों मणि तेरे भैय्या ने अभी तक विवाह् नहीं किया, यह् तो मैं तेरी बातों से समझ गई, किन्तु मैं यह न समझ सकी अन्तत: उन्होंने अभी तक विवाह् क्यों नहीं किया ?"

"करते ही नहीं। मेरे कहने पर कह् देते हैं विवाह् बन्धन है, जंजाल है। विवाह् के पश्चात् मनुष्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है, वह् उन्मुक्त विचरण नहीं कर सकता, स्वच्छन्द विहार नहीं कर सकता। जब मैं तर्कों द्वारा उनकी बात को काटना चाहती हूँ तो हँस देते हैं और कहते हैं, "मणि, मैं तेरे लिए विवाह् नहीं करता। प्रथम तेरा विवाह् करूँगा, फिर अपना। और यदि मैंने प्रथम अपना विवाह् कर लिया तो मैं तुझे भूल जाऊँगा, ऐसे ही भूला रहता हूँ। फिर तेरी भाभी की माया में मैं तुझे स्मरण रख सकूँगा, इसमें सन्देह है।" इतना कह कर मणि रो दी। कुछ रुक कर फिर बोली, "भाभी, अब आप ही बताइये मुझे यह् बुरा नहीं लगेगा कि मेरा भैय्या केवल मेरे कारण विवाह् न करे। मैं भैय्या के सुख संसार में रोड़ा बनूँ, व्यवधान डालूँ यह् मुझे सत्य नहीं। इसीलिए मेरी इच्छा है कि एक चाँद सी भाभी मैं अपने भैय्या के लिए ढूँढ दूँ।"

मणि की इस बात ने मुझे द्रवित कर दिया। मुझे उस सौभाग्यशालिनी रमणी से जो भविष्य में मणि की भाभी बनने वाली है—मन ही मन ईर्ष्या होने लगी ! ओह् ! कितनी भाग्य-शालिनी होगी वह्। मणि सी नन्द और प्रेम सा पति। पति साक्षात् काम····सुन्दर····साथ ही साथ धन भी भरा पूरा। केवल धन ही नहीं सदा बहार, उसे कोई नौकरी तो करनी नहीं, बाहर तो जाना नहीं, वह् सदैव अपनी प्रेयसी को पलकों पर बिठाए रहेगा, सदैव हृदय से लगाए रहेगा····और एक मैं हूँ····

मेरा पति केवल बातें बना पाता है। किन्तु बातों से कहीं मन भरता है, खाद्य पदार्थों के नामों की गणना करने से कहीं पेट भरता है, केवल कल्पना की कूँची से कहीं दीवार पर चित्र बन पाता है, जब तक उसे हाथ से बनाया न जाय''' मेरे पति यही चाहते हैं। स्वयं तो महीनों बाहर रहेंगे''''और मुझसे चाहेंगे, मैं प्रसन्न रहूँ। वे बाहर रह कर उन्मुक्त विचरण कर लेते होंगे, अपनी क्षुधा की निवृत्ति कर लेते होंगे''''किन्तु मैं ?''''मैं भी तो नारी हूँ, मेरी भी तो स्वयं की इच्छाएँ हैं, अभिलाषाएँ हैं, क्या मैं अपनी इन समस्त अभिलाषाओं को उनकी प्रतीक्षा में ही खो दूँ। उनकी मधुर बातों में ही अपने अस्तित्व को समाप्त कर दूँ। नहीं मैं ऐसा नहीं होने दूँगी। मेरा भी अपना स्वयं का अस्तित्व है।" यह सब विचार करते समय मुझे यह ध्यान ही न रहा कि मणि मेरे समीप ही खड़ी है। मेरे मुख पर अंकित होती हुई प्रत्येक भाव भंगी का वह अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन कर रही थी। कुछ समय तो मुझे मौन देखकर गम्भीर रही, फिर मुझे एकाएक झकझोरते हुए पूछ बैठी "भाभी, भाभी, क्या विचारने लगीं। क्या भैय्या की स्मृति आ गई।" मैं चेत में आई। मुझे स्वयं अपने ऊपर लज्जा आने लगी। मैं उस बात का उत्तर दिए बिना दूसरी बातों द्वारा मणि का हृदय बहलाने की चेष्टा करने लगी? इसी समय मुझे बाहर किसी की पग ध्वनि सुनाई पड़ी। कमरे के समीप ही पग ध्वनि रूक गई। इसी समय किसी ने पुकारा "मणि। मणि।" "आई भैय्या" कहती हुई बाहर चली गई। मैं समझ गई प्रेम आया है। मैं सतर्क होकर बैठ गई। ऊपर से नीचे तक मैंने स्वयं अपने शरीर के ऊपर एक दृष्टि डाली, मुझे लगा कि मैं देखने में आज अधिक आकर्षक नहीं लग रही हूँ क्या? मुझे क्या पता था कि मेरी प्रेम से भेंट हो जावेगी। यदि ज्ञात होता तो मैं किंचित सतर्कता के साथ अपना

मेकअप करती। मैं यह सब विचार ही रही थी कि मणि अपने भैय्या को लिए कक्ष में आ पहूँची।

वे अब मेरे सामने खड़े थे। मैं सकुच कर खड़ी हो गई। उन्होंने दोनों हाथ जोड़ते हुए "नमस्ते" कहा, मैंने भी हाथ जोड़ कर अभिवादन का उत्तर दिया। उन्होंने हँसते हुए पूछा, "मेरा आपसे परिचय हो चुका है। आपने मुझे पहचाना? मुझे प्रेम कहते हैं। मैं मणि का भाई हूँ।" मेरे मुख से अनायास ही निकल गया, "जी, मुझे स्मरण है" इसके आगे इच्छा रखते हुए भी कुछ कह न सकी। मैं उतनी संकोचशील तो न थी, जितनी उस समय बन गई थी। मुझे क्यों इतना संकोच हो रहा था, क्यों इतनी लज्जा आ रही थी, इससे मैं स्वयं अपरिचित थी, अज्ञात थी। इसके पूर्व मैं अपने पति के कितने ही मित्रों से मिल चुकी थी, उनके साथ हँस बोल चुकी थी, घूम चुकी थी, किन्तु आज तक मैं कभी भी ऐसी लज्जा से अभिभूत नहीं हुई थी। किन्तु आज यह सब क्यों? मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, वे मेरी इस निर्बलता से अवगत हो गए हैं। मुझे यह बुरा लगा। इसमें मुझे अपनी पराजय दीख पड़ी। यह भाव आते ही संकोच जाता रहा, मेरी लज्जा समाप्त हो गई और एक बार मेरा अहं फिर मेरी इन समस्त निर्बलताओं पर आरूढ़ हो गया। मैं विचार रही थी, "लज्जा, संकोच, यह मेरे लिए नहीं है, मैं तो पुरुष मात्र पर शासन करने के लिए बनी हूँ, मेरा जन्म नारी जाति को ऊँचा उठाने के लिए हुआ है, क्या इसी प्रकार मैं पुरुषों को पराजित कर सकूँगी⋯⋯" मेरी विचारधारा अभी चल ही रही थी कि उसके एक प्रश्न ने मेरे ध्यान को भंग कर दिया "जी, क्षमा कीजिएगा मैं आपका नाम तो भूल ही गया।"

मेरा संकोच दूर हो चुका था। मैंने तुरन्त उत्तर दिया, "मुझे शैवालिनी कहते हैं। वैसे आप मुझे शैल भी पुकार सकते हैं।" मैं

अभी तक अपने नेत्र संकोच के कारण नीचे किए ही खड़ी थी। किन्तु इस उत्तर के साथ-साथ मैंने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई। मैंने देखा वे बड़े ही ध्यान से मुझे ही निहार रहे हैं। उन्हें अपनी ओर देखते देख कर मैं प्रथम कुछ सकुचाई, फिर साहस करके मैंने अपनी दृष्टि को स्थिर कर लिया। दृष्टि स्थिर होते ही हम दोनों की दृष्टि टकरा गई। आँखें चार हो गईं। एक बार मेरी पलक झपकी, लज्जा के कारण कपोलों पर लालिमा छा गई, कुछ स्वेद भी आ गया, किन्तु ज्ञात नहीं क्यों मैं अपनी दृष्टि को उनके मुख पर से हटा न सकी? मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि साक्षात कामदेव ही मेरे समक्ष दीन भाव से खड़े मेरी एक कृपा कटाक्ष के आकांक्षी हैं। उनका विशाल एवं गौरवशाली मस्तक जैसे मेरे समक्ष नत होने को है, उनके बड़े बड़े नेत्रों में अरुणाई व्याप्त है, कुछ नीलिमा है, कुछ कठोरता है, कुछ अहं की भावना है, किन्तु एक विचित्र प्रकार की आकुलता-व्याकुलता छाई हुई है। मुझे इन सभी पर लगा यह एक निरीह प्राणी की दृष्टि है, एक ऐसे प्राणी की जो एक बंकिम कटाक्ष के लिए, एक मधुर प्रोत्साहन के लिए, एक प्रेम से पूर्ण हृदय को प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर है, उसके अधर भी मुझे इन्हीं भावनाओं के साथ आमन्त्रण देने लगे, उसका सम्पूर्ण प्रभावशाली व्यक्तित्व भी मुझे कातरता से पूर्ण लगा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इस गौरवशाली व्यक्तित्व में सभी कुछ होते हुए भी किसी वस्तु का इसमें अभाव है। इसके अन्तर में कहीं पर शून्यता व्याप्त है, एक विराट् शून्यता—जो कुछ प्राप्त करने को इच्छुक है, जो कुछ लेने को लालायित है और जो अपने सर्वांग सहित किसी के ऊपर न्यो-छावर हो जाने को उत्सुक है। मैं उस समय उसके व्यक्तित्व को देखकर यह भूल गई कि मैं विवाहित हूँ, तीन बच्चों की माँ हूँ, मुझे लगा मैं अभी कुँआरी ही हूँ, अभी मेरा अपना कहने वाला

कोई नहीं आया है और आज यह मुझे आमंत्रित कर रहा है कि मुझे अपना बना लो मुझे अपने आंचल की छांह में छिपा लो, मुझे अपने प्रेम का प्रश्रय दे दो, मैं तुम्हारा 'प्रेम' ही तो हूँ। हाँ हाँ! 'प्रेम' ही तो है यह। साक्षात प्रेम। अपने प्रेम की वरमाला इसी के कंठ में क्यों न डाल दूँ। मुझे अभी विवाह तो करना ही है, क्यों न इसी प्रेम के साथ वरण कर लूँ। इसके आमन्त्रण को स्वीकार कर लूँ। किन्तु इसी समय मुझे स्मरण आया, "अरे। मैं तो विवाहिता हूँ, मेरे पति भी तो जीवित हैं, मैं तीन बच्चों की माँ हूँ..... माँ हूँ.... पत्नी हूँ, माँ हूँ....पत्नी हूँ....माँ हूँ....मैं एकदम व्याकुल हो उठी। केवल इन दो शब्दों ने मेरी सम्पूर्ण चेतना को आक्रान्त कर दिया। मेरा मातृत्व, मेरा पत्नीत्व एक बार सजग होकर उठ बैठा। ओह! मैं यह सब क्यों विचार गई। मैं तो माता हूँ, पत्नी हूँ? मेरे लिये पर पुरुष का स्मरण भी घातक है, अपराध है, पाप है। तो क्या मैं अपराधिनी हूँ? पतिता हूँ। नहीं नहीं। यह सब व्यर्थ के विचार। आज युग बहुत आगे बढ़ चुका है, मैं शिक्षिता हूँ, नर जयी नारी हूँ, रूढ़िवादिनी पग पग पर दलित और शोषित की जाने वाली निराश्रय निर्बल अबला मात्र नहीं।......." अभी मेरी विचारधारा चल ही रही थी कि प्रेम के प्रश्न ने मुझे पुनः सचेत कर दिया, "लगता है मुझसे मिलकर आप कुछ व्याकुल हो उठीं? क्या दुःख हुआ। यदि ऐसा है तो क्षमा चाहता हूँ।" इतना कहकर वह पीछे की ओर मुड़ गए। मुझसे अब न रहा गया। मेरे मुख से अनायास ही निकल गया "नहीं, नहीं, मैं तो आपसे मिल कर प्रसन्न हूँ। मैं सोच तो यह रही थी कि मैं किस प्रकार से आपसे वार्तालाप प्रारम्भ करूँ।"

मेरी बात सुनकर वे हँस पड़े। "ओह, मुझे भ्रम हो गया। हाँ, तो आपने क्या विचार किया? किस प्रकार से मुझसे वार्तालाप करने का निश्चय किया?"

मुझे हँसी आ गई। बात स्वयं ही निकल पड़ी थी। मैंने उत्तर दिया, "निश्चय क्रियान्वित कहाँ कर पाई। वार्तालाप तो प्रारम्भ हो ही गया।"

मणि बीच में आ गई, 'अच्छा भाभी छोड़ो भी, यह बताओ कि आज कहीं घूमने चलोगी, या यों ही खड़ी खड़ी बातें ही बनाती रहोगी।"

प्रेम ने भी मणि के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा, "हाँ, हाँ, ठीक तो है। एकान्त में घर पर रहने से घूमना तो कहीं उत्तम होता है। यदि आपकी सहमति हो तो मैं आज संध्या को कुछ भ्रमण की योजना बनाऊँ।"

बीच में ही मणि बोल उठी, "हाँ, हाँ भैय्या, आप योजना बनाइए। भाभी को तो चलना ही पड़ेगा।"

दोनों का अनुरोध देखकर मुझे भी स्वीकृति देनी ही पड़ी।

संध्या के छः बजे के लगभग हम लोग कार से भ्रमण करने निकले। प्रथम पिक्चर जाने का प्रस्ताव रखा गया था, किन्तु मैंने उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया था। मैंने मनोरंजन के लिए केवल भ्रमण की ही स्वीकृति दी। महानगरी बम्बई में ऐसे सुन्दर स्थलों की न्यूनता तो है ही नहीं। अनेक ऐसे दर्शनीय और रमणीय स्थान हैं, जहाँ सरलता से मन को रमाया जा सकता है। उस समय योजना बनी "गेट वे आफ इंडिया" पर चलने की। हमारी कार फोर्ट मार्केट के विशाल वक्षस्थल को चीरती हुई गेट वे आफ इंडिया पर जा पहुँची। बम्बई में संध्या समय इस स्थान की शोभा अद्वितीय हा उठती है। अन्तरिक्ष तक व्याप्त सागर, सर सर करती हुई शीतल, मंद, सुगंध पवन, किलोलें करती हुई सागर की उर्मियाँ और इन सबसे परे सागर के वक्षस्थल पर खड़े विशाल जल पोत। सभी कुछ कितना सरस,

कितना रमणीय, कितना सुन्दर था। मैं इस दृश्य को एक नहीं अनेक बार देख चुकी थी, किन्तु प्रत्येक अवसर पर इस दृश्य में कुछ नवीनता, कुछ मोहकता, कुछ रमणीयता मुझे अवश्य दीख पड़ी थी। मैं अनन्त जलराशि में खोई हुई थी कि पीछे से मणि ने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा, "भाभी, आज डिनर हम लोग ताज होटल में ही करेंगे।" उसकी इस बात से मेरा ध्यान भंग हुआ। मैं पीछे घूमी। देखा मेरे पीछे ही, बिलकुल मुझसे सटकर प्रेम खड़ा है, सम्भव है मेरे केशों की सुगन्ध उसके नासिका रंध्रों में पहुँच रही हो। मुझे उसे अपने समीप इस दशा में देखकर भला लगा। वह मुग्ध भाव से केवल मेरे केशों को निहार रहा था। मेरे पीछे घूमते ही वह चौंक कर पीछे हट गया। मुझे उसकी यह सकुच भली नहीं लगी। उस समय न जाने क्यों मुझे लगा कि यह मुझसे सकुचा क्यों रहा है? मैं भूल गई रहा है नहीं, रहे हैं। न जाने क्यों उनके प्रति मेरे हृदय में अकस्मात् ही आदर का भाव आ गया। मैं विचार कर रही थी, "मुझसे उन्हें अलग नहीं होना चाहिए, नहीं''''नहीं''''मुझसे उन्हें दूर नहीं हटना चाहिए''''उनका मुझ पर पूर्ण अधिकार है, मैं उनकी हूँ'''' उन्हें मुझसे दूर नहीं हटना चाहिए''''''''''उन्हें अपनी दृढ़ भुजाओं में आबद्ध करने का पूर्ण अधिकार है।''''''''किन्तु यह क्या विचार रही हूँ'''''''''ओह! यह तो प्रेम है, मेरे पति '' ''''नवल नहीं। इनका मुझ पर क्या अधिकार है, कुछ भी तो नहीं। वास्तव में ये पर पुरुष हैं, एक हिन्दू नारी के लिए पर पुरुष का स्मरण भी पाप है और मैं तो पर पुरुष के संसर्ग में हूँ।" मेरी विचारधारा ने फिर पल्टा खाया, "मैं इन प्राचीन रूढ़ियों को अस्वीकार करती हूँ, मैं इन धार्मिक ढकोसलों पर विश्वास नहीं करती। फिर तुम क्या चाहती हो?" मेरे मन ने मुझसे ही प्रश्न किया। "मैं '' मैं '' मैं कुछ नहीं चाहती

मेरी विचारधारा अभी चल ही रही थी कि प्रेम का कंठ स्वर सुनकर अवरुद्ध हो गई। वे कह रहे थे, "चलिए, सामने ताज में प्रथम भोजन कर लें फिर कुछ अन्य योजना बनाई जाय।" मैंने देखा वे यह कहते हुए सामने हाथ उठाकर ताज होटल की ओर संकेत कर रहे हैं।

हम तीनों ताज होटल की ओर चल दिए। जब मैं ताज होटल की सीढ़ियों पर चढ़ने जा रही थी तो किसी अपरिचित कंठ ध्वनि से मैं चौंक उठी। कोई कह रहा था 'आज फिर एक नया माल फांस लाया है।' इस पर किसी का उत्तर था, 'हाँ, भई। माल पैसे वालों को नहीं मिलेंगे और क्या हमें तुम्हें मिलेंगे।' यह आवाज कुछ रुकी। मैं यह बातें सुनने को सीढ़ियों पर ही ठिठक गई थी। मैं चलने को हुई कि पुनः प्रथम कंठ स्वर सुन पड़ा। वह कह रहा था, 'भई, इसकी बहन भी अच्छे माल फांसने में इसकी बड़ी सहायक है।' दूसरी आवाज ने इसका प्रतिवाद किया 'साली बहन, रंडी...............' इसके पश्चात् एक दीर्घ अट्टहास। मैं कांप उठी इस ध्वनि को सुनकर, मैं प्रथम रुकने को हुई किन्तु पुनः मेरे पग अग्रसर हो गए। मुझे लगा कि मैं किसी भीषण जंजाल में आबद्ध होती जा रही हूँ। मैं किन्हीं धूर्तों के चक्कर में पड़ चुकी हूँ। किन्तु यह विचारधारा स्थिर न रही। मेरे विचार पुनः परिवर्तित हो गए। अब मैं विचार कर रही थी यह नीच किसी पर भी कीचड़ उछाल सकते हैं। हाय री ईर्ष्या ! ये क्यों इतना ईर्ष्या करते हैं। मुझे लगा प्रेम और मणि के उज्जवल चरित्र पर ये लोग अपनी ईर्ष्या भावना के कारण ही कलंक लगाना चाहते हैं। कितने धूर्त, झूँठे, पातकी, नीच और मक्कार हैं, ये मैं बुद बुदा उठी। मणि मुझसे एक सीढ़ी आगे थी। वह मेरी बुदबुदाहट सुन कर रुक गई। उसने हँसते हुए प्रश्न किया 'क्या है भाभी, क्यों बुदबुदा रही हो' मैंने कुछ उत्तर नहीं

दिया। केवल हँस दी। मैंने मणि की ओर देखा, उसका चेहरा कुछ उतरा हुआ था। मेरे हृदय में एक शंका उठी 'क्या इसने भी उन व्यक्तियों की बातें सुन लीं हैं? सम्भवत: हाँ, तभी तो इसकी आकृति विवर्ण हो गई है। किन्तु क्या वे लोग ठीक कह रहे थे? किन्तु मणि की उसी से विचारधारा ने करवट ली, "नहीं, वे झूठे थे, पातकी।" मैं ताज होटल के ऊपर पहुँच चुकी थी। वहाँ बैठे-बैठे भी मेरे हृदय में इसी बात का अन्तर्द्वन्द्व होता रहा। अन्त में मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँची कि वे लोग झूठे थे, मक्कार थे और ये लोग देवता हैं। मेरे प्रति इन दोनों का सहज स्नेह है। मैं आज विचार करती हूँ कि काश! मैं इन दोनों से उस दिन ही सावधान हो जाती, तो क्यों आज मेरा घर नष्ट हुआ होता।

उसी दिन होटल के बाहर निकलते समय मैं उन अपरिचित व्यक्तियों के वे वाक्य भूल चुकी थी। इसके पश्चात् तो हम दोनों की—मेरी और प्रेम की—प्रेम लीला प्रारम्भ हो गई थी। प्रेम में मनुष्य अंधा हो जाता है, बधिर हो जाता है, मूक हो जाता है। मेरी भी यही दशा थी। वास्तव में उस समय मैं अंधी हो गई थी। मैं यह जानते हुए भी कि मैं विवाहित हूँ, तीन बच्चों की माँ हूँ, अनजान बनने का प्रयत्न कर रही थी। उस समय मैं अपने पति को, अपने बच्चों को भूल जाना चाहती थी—दूर कर देना चाहती थी। न जाने प्रेम के प्रेम ने मेरे मस्तिष्क पर, मेरे हृदय पर कैसा सम्मोहन कर दिया था, कि मैं उसी में मोहित हो गई थी, अपने को ही विस्मृत कर चुकी थी। उस समय मुझे केवल यह स्मरण था, कि इस विश्व में केवल मैं और प्रेम हूँ, प्रेम और मैं हूँ और अनन्त काल तक हम दो ही रहेंगे—एक से, अभिन्न।

दूसरे दिन मैं स्वयं अपनी कार से प्रेम के यहाँ पहुँच गई। मुझे अब अपना घर प्रेम के अभाव में प्रिय नहीं लग रहा था। प्रेम और मणि दोनों ने मेरा स्वागत किया। मैं प्रसन्न हो उठी।

यद्यपि मेरे हृदय में प्रेम ने स्थान बना लिया था, मैं उससे प्रेम करने भी लगी थी किन्तु इस समय मैं उसे सम्मुख देख कर लज्जा से गड़ गई थी। मुझे एक अज्ञात संकोच ने जकड़ रक्खा था। उधर मेरे संकोच के कारण प्रेम भी संकुचित था। कुछ-कुछ भयभीत था, व्याकुल था। मणि ने मुझे अपने समीप सोफे पर बैठा लिया। मेरे सामने ही प्रेम बैठा था। कुछ खोया-खोया सा वह मेरी ओर निर्निमेष दृष्टि से ताक रहा था। मैं कुछ सकुचा गई। मुझे लगा कि यह मेरे निरावृत्त सौन्दर्य का अपने नेत्रों द्वारा ही पान कर जाना चाहता है। मुझे इस विचार से रोष नहीं आया वरन् प्रसन्नता ही हुई। मेरी सकुच कुछ कम हुई। मेरी इच्छा हुई कि मैं अपने उन्मुक्त सौन्दर्य को अपने अगाध रूप में इस उन्मुक्त विचरण करने वाले पंछी को आबद्ध कर लूँ, अपना बना लूँ। यही विचार कर मैंने अपने पलक उठाए, एक बार फिर दोनों की आँखें चार हुईं, दोनों कुछ सकुचाए, कंपित हुए, मुझे लगा कि उनके कुछ अधर भी हिले, मेरे अधर भी हिले, किन्तु दोनों ओर शान्त, दोनों मौन पलक गिरे, फिर उठे। वे अब भी मेरी ओर निहार रहे थे—रूप का पान करते समय वे पलकों के पट डालना शायद अनुचित समझते थे। तभी तो वे निर्निमेष मेरी सौन्दर्य सुधा का निश्चित भाव से पान करते जा रहे थे। मेरा संकोच भी दूर हुआ। मैंने भी अपलक उनके सौन्दर्य का पान प्रारम्भ कर दिया। दोनों की दृष्टि परस्पर उलझी हुई थी। न जाने क्या बात थी—क्या आकर्षण था कि मैं इच्छा रखते हुए भी उनकी उलझी दृष्टि से अपनी दृष्टि को मुक्त नहीं कर पा रही थी। मुझे लगा कि उन नेत्रों द्वारा मुझ पर सम्मोहन किया जा रहा है। एक अज्ञात उष्णता मेरे सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती जा रही है—एक अज्ञात सिहरन और उसके पश्चात् रोमांच, शिराओं में रक्त की तीक्ष्णता, धड़कन में वृद्धि और

मस्तक पर कुछ स्वेद बिंदुओं का अनायास ही आ जाना। यह सब कुछ दो क्षणों में हो गया। उन्होंने एक आँख से कुछ इंगित कर, नेत्र नीचे कर लिए। मुझे चेत हुआ। मैं शर्मा गई। लजा गई। पसीने से तर हो गई। मैं हड़बड़ा कर खड़ी हो गई। मैंने देखा वहाँ मणि नहीं है। किस समय वह मेरे समीप से उठकर चली गई, इसका मुझे ज्ञान भी न था। मैंने पुकारा, "मणि।"

उनका उत्तर था "अभी आती है। आपके लिए काफी का प्रबन्ध करने गई है। आप बैठिए भी।"

मैं उसी सोफे पर अभिमंत्रित सी बैठ गई। निर्विकार, निश्चेष्ट, निर्लिप्त सी।

लगभग पाँच मिनट पश्चात् मणि ने कमरे में प्रवेश किया। उसके पीछे एक नौकरानी हाथ में ट्रे लिए आ रही थी। मैं समझ गई, काफी आ गई है। ये एकान्त के पाँच मिनट मुझे भले लगे थे, यद्यपि उस समय मेरे हृदय के किसी कोने में एक अज्ञात भय भी छिपा बैठा था। उसी अज्ञात भय के कारण मैं इच्छा रहते हुए भी मौन थी। इस बीच प्रेम ने अवश्य मुझसे कुछ वार्तालाप करने की चेष्टा की थी। किन्तु मेरा सहयोग न पाकर वह भी मौन हो गया था।

मणि के आते ही हम लोगों का मौन भंग हुआ, चुप्पी टूटी। मैं मणि से अनायास ही पूछ बैठी, "कहाँ रुक गई थी?" यह प्रश्न पूछ कर मैं स्वयं लज्जित हो गई। कारण मुझे यह ज्ञात था कि मणि काफी लेने गई थी।

मणि ने कहा "काफी ले आई हूँ, भाभी। एकदम गर्म। पीजिए जिससे कम से कम संकोच के कारण आपके हृदय में जो शब्द जम गए हैं, वे ताप पाकर पिघल कर बाहर तो आएँ।" इसके पश्चात् उसने प्रेम की ओर उन्मुख होकर कहा "और ये मेरे भैया हैं, दार्शनिकों को मात कर रहे हैं। लीजिए, काफी

लीजिए और अपने इस दर्शन को त्यागिए।" उसने मुझे और प्रेम को काफी का एक-एक कप बना कर देते हुए, यह बात कही। वह मेरी ओर फिर घूमी। हँसती हुई बोली "भाभी! चीनी कुछ अधिक कर दी है, जिससे आपकी मधुरता कुछ बढ़ जाय।" इसके पश्चात् मेरे ऊपर एक बंकिम कटाक्ष डालते हुए वह मौन हो गई। कुछ रुक कर अपने लिए काफी का प्याला उठाते हुए वह बोली, "मुझे काफी का प्याला कौन देगा। स्वयं ही उठा लूँ।" और हँस दी।

हम तीनों ने काफी पीना प्रारम्भ किया। मणि ने मुझसे प्रश्न किया, "भाभी, काफी कैसी बनी है? मैंने अपने हाथ से स्वयं आपके लिए बनायी है।"

मैंने उसे धन्यवाद देते हुए कहा, "अत्यन्त सुन्दर एवं स्वादिष्ट" यह कह कर मैंने प्रेम की ओर देखा। काफी पीते समय भी उनकी दृष्टि मुझी पर टिकी थी। मुझे उनकी यह चेष्टा कुछ भद्दी लगी। "यह कहाँ की मनुष्यता है, कि यह मुझी को घूरे जाते हैं। यह तो मुझे ऐसे निहार रहे हैं मानों मैं कोई खाने पीने की सामग्री होऊँ।" एक क्षण के लिए मेरे मस्तिष्क में ये विचार उठे, किन्तु शीघ्र ही मेरी विचारधारा परिवर्तित हो गई। मेरे अन्तर की वासना प्रबल हो उठी। मैंने भी साहस करके पुन: उनसे नेत्र मिला दिए। न जाने क्या बात थी कि इस बार मेरी दृष्टि मिलते ही उन्होंने अपनी आँखें नीची कर लीं। मुझे एक धक्का सा लगा। किन्तु मैंने उनके चेहरे पर से दृष्टि हटाई नहीं। निर्निमेष उन्हीं की ओर देखती रही। कुछ क्षण पश्चात् उन्होंने पुन: दृष्टि उठाई। मैं उधर ही देख रही थी। फिर हम दोनों की दृष्टि टकराई। किन्तु इस बार न किसी के नेत्र झुके, न ही कोई शर्माया और न लजाया। वरन् इसके पश्चात् हम दोनों का ही संकोच दूर हो गया। दोनों एक दूसरे को देख कर मुस्करा दिए। इस

समय हम दोनों का ही हृदय प्रसन्नता से नृत्य कर रहा था। अबकी बात मैंने प्रारम्भ की। मैंने कहा, "मणि, तुम अपने भैया को दार्शनिक क्यों कहती हो? यह तो सूरत से दार्शनिक लगते नहीं। गुण तो इनके अपने नाम के अनुरूप हैं।" यह कह कर मैंने उनकी ओर वंकिम दृष्टि से देखा और मुस्कुरा दी।

मणि समझ गई। बोली, "भाभी! दर्शन भी तो कई प्रकार के होते हैं। कोई ईश्वर के दर्शन में तल्लीन रहता है, तो कोई पुस्तकों के अवलोकन और मनन में आत्मविस्मृत रहता है और कोई किसी मधुर छवि के पात्र में विभोर रहता है, ये हुए तो तीनों ही दार्शनिक ही। अब यह बात तो आप ही समझ सकती हैं, कि मेरे भैय्या किस ढंग के दार्शनिक हैं।

मैं उत्तर देने जा रही थी कि प्रेम बोल उठा, "मैं तो भई तीसरे प्रकार का दार्शनिक हूँ। किसी की मधुर छवि को निहारा करूँ, बस मेरी तो यही अभिलाषा है।"

मुझे यह कुछ विचित्र सा लगा। छोटी बहन के समक्ष कोई भाई इतना खुल जाय, यह मैंने इसके पूर्व नहीं देखा था। किन्तु सभ्य परिवारों में ऐसा होता है, इससे मैं परिचित तो थी ही। मैंने इस बात को यहीं छोड़कर दूसरी बात प्रारम्भ कर दी, "मणि! कहो, आज कहाँ चलने की योजना बना रही हो। आजकल मुझसे घर पर अकेले रहा ही नहीं जाता।" मैंने निस्संकोच अपनी निर्बलता कह डाली।

उत्तर प्रेम ने दिया, "कोई भला आदमी अकेला रहना पसन्द नहीं करता, यह कह कर वह हँसा, कुछ रुकने के पश्चात् उसने पुनः कहा, "मणि, न हो तो आज रेस ही क्यों न देखी जाय।"
"गुड भैय्या, गुड।" यह कहते हुए मणि चहक उठी।

मैंने भी यह योजना स्वीकार कर ली। मैंने अभी तक रेस

का नाम ही सुना था, कभी देखने का अवसर मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। अतः इस योजना से मेरा सहमत हो जाना स्वाभाविक ही था। दोपहर को दो बजे रेस के मैदान की ओर चलने की हम लोगों की योजना बनी। बारह बज चुके थे, अतः मुझसे वहीं भोजन करके चलने का प्रस्ताव किया गया। मैंने इस प्रस्ताव को भी सहर्ष स्वीकार कर लिया।

हम तीनों ने एक साथ भोजन किया। इसके पश्चात् कुछ विश्राम के पश्चात् हम तीनों कार से रेस के मैदान की ओर चल दिये।

बम्बई में रहते हुए भी मैंने रेस का मैदान अपने जीवन में प्रथम बार ही देखा था। मेरे पति व्यवसाय से ही नहीं वरन् स्वभाव से भी एक सैनिक थे। उन्हें किसी प्रकार का कोई भी अनैतिक कार्य पसन्द नहीं था। वे रेस को भी एक अनैतिक कार्य समझते थे, इसी कारण से मैं इस ओर बम्बई में रहते हुए भी न आ सकी थी। यद्यपि मैं रेस के नाम से, उसके प्रताप से परिचित थी। मेरे एक पड़ोसी ने रेस खेलकर ही लाखों रुपये बना लिये थे, यह मैं सुन चुकी थी। उस समय मेरे मन में यह जानने की उत्सुकता हुई थी कि यह किस प्रकार का खेल है कि जिसमें लोग लाखों रुपया बना लेते हैं। रेस का नाम सुनते ही मेरी यह पुरानी उत्सुकता जाग उठी थी। इसी कारण से मैंने निर्विरोध उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था।

सरदार बल्लभ भाई स्टेडियम से सटा हुआ रेस का मैदान है, यह मुझे ज्ञात था, किन्तु मैं उस ओर गई कभी न थी। मेरी कार जब बल्लभ भाई स्टेडियम के समीप पहुँची, मुझे अनुमान हो गया कि मैं अपने निर्दिष्ट लक्ष्य के समीप पहुँच चुकी हूँ। सागर तट पर स्थित यह स्टेडियम बड़ा ही सुहावना लगता है। ख्याति प्राप्त पहलवानों के चित्र स्टेडियम के बाहर ही लगे हुए थे। मुझे

वे चित्र बड़े भले लगे। मैं उस स्टेडियम की रमणीयता पर अभी विचार ही कर रही थी, कि मेरी कार रेस का मैदान आ जाने के कारण रुक गई। यह स्टेडियम भी कम सुन्दर न था। टिकटों का प्रबन्ध प्रथम ही हो चुका था। जिस समय हम लोग अन्दर पहुँचे प्रथम घुड़दौड़ प्रारम्भ होने को थी। घोड़े मैदान में आ चुके थे। हम तीनों के पास ही दुरबीन थी। मैंने उसी से देखा कोई छै घोड़े मैदान में खड़े थे। उस दिन कुल मिलाकर पाँच घुड़दौड़ें होने को थीं।

कोई दो मिटन पश्चात् ही प्रथम घुड़दौड़ प्रारम्भ हो गई। इस घुड़दौड़ पर हम लोगों ने कोई टिकट नहीं क्रय किया था। इस कारण मुझे इस घुड़दौड़ में कोई विशेष आनन्द प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु मैं यह देखकर आश्चर्यचकित रह गई कि बड़े ही सम्भ्रान्त परिवार की महिलाएँ-पुरुष दोनों ही इस प्रकार से गला फाड़-फाड़ कर अपने-अपने घोड़ों का नाम ले-लेकर चिल्ला रहे थे, कि ज्ञात होता था कि न उनके संकोच रह गया है, न शील ही। उनकी इस कृत्रिम सभ्यता का झूठा आवरण भी हट चुका था। मुझे यह सब देखकर भला नहीं लगा। प्रथम घुड़दौड़ के पश्चात् दूसरी, दूसरी के पश्चात् तीसरी प्रारम्भ हुई। उस तीसरी घुड़दौड़ की स्मृति मुझे आजीवन रहेगी। उसी की कृपा से मुझमें और प्रेम में घनिष्टता बढ़ी, सम्बन्ध बढ़ा और हम दोनों ही अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर विनाश मार्ग के पथिक हो गए।

हाँ, तीसरी घुड़दौड़ में हम सभी के नाम से प्रेम ने टिकट खरीद लिए थे। उसने अपने नाम से ५०० रु० के टिकट लिए थे। मेरे और मणि के नाम से केवल दस रु० के टिकट लिए गये थे। मुझसे प्रेम ने टिकट लेने से पूर्व प्रश्न किया "आपके लिए किस घोड़े का टिकट लूँ।"

"आपने किस घोड़े का टिकट लिया है।" मैंने प्रश्न किया।

"मुझे एक जकी (घुड़सवार) ने बतलाया कि आज 'फेमस' (एक घोड़े का नाम) विजयी हो रहा है, अतः मैंने उसी पर ५०० रु० के टिकट ले लिए हैं। अब आपके लिए किस घोड़े के टिकट लूँ। इतना कहकर उन्होंने मेरे आगे एक छोटी सी पुस्तिका कर दी। उस पुस्तिका में सभी घोड़ों के नाम और उनका परिचय और इतिहास दिया हुआ था। मैंने देखा उस रेस में सात घोड़े दौड़ने जा रहे थे। 'फेमस' पाँचवें नम्बर पर था। मेरी दृष्टि तीसरे नम्बर के घोड़े पर जा टिकी। घोड़ी का नाम था 'राजदुलारी।' मैंने उसी का एक टिकट लेने का आग्रह किया। इस प्रकार प्रथम बार मैंने केवल एक दस रुपये का टिकट ही लिया। मणि ने भी 'फेमस' का एक टिकट ले लिया। इस बार की घुड़दौड़ देखने में मुझे सबसे अधिक आनन्द आया। घुड़दौड़ प्रारम्भ हुई। मुझे पूर्ण विश्वास था कि विजय तो 'फेमस' की ही होगी, अतः मेरे दस रुपये व्यर्थ चले जायेंगे। यह जानते हुए भी मैंने 'राजदुलारी' पर दस रुपये क्यों लगाये थे, स्वयं मुझे भी ज्ञात न था। बस, मैंने यों ही लगा दिये थे। घुड़दौड़ प्रारम्भ होते ही शोर मचना प्रारम्भ हो गया था। अधिकांश उपस्थित व्यक्ति 'फेमस' का नाम लेकर ही चिल्ला रहे थे। 'राजदुलारी' का नाम लेने वाला कोई न था। था भी तो उसकी ध्वनि उस तक ही सीमित रह जाती थी। मेरी उत्सुकता भी बढ़ती जा रही थी। मैं अपनी दुरबीन से अपलक सरपट भागते हुए घोड़ों को देख रही थी। कंठ-स्वर बढ़ते ही जा रहे थे। सभी अपने घोड़ों का नाम पुकार-पुकार कर चिल्ला रहे थे। मुझे यह देखकर बड़ी लज्जा लगी, कि प्रेम और मणि भी अपना संकोच और सभ्यता त्याग कर गला फाड़-फाड़ कर "फेमस कम आन, फेमस कम आन" चिल्ला रहे थे। किन्तु इन लोगों के सामूहिक चिल्लाने से ही 'फेमस' विजयी नहीं हुआ। प्रथम राजदुलारी ही आई।

मुझे यह सुनकर अपार हर्ष हुआ। प्रेम और मणि का चेहरा प्रथम उतरा, फिर मेरी प्रसन्नता से वे भी प्रसन्न हो उठे। प्रेम तो भावातिरेक में मुझे उठा कर नृत्य करने को उद्यत हुए किन्तु मैं पीछे हट गई थी। मेरे शरीर का स्पर्श आज उन्होंने प्रथम बार ही किया था। मुझे उनका यह स्पर्श बड़ा सुखद लगा था।

सभी घुड़दौड़ें समाप्त होने के पश्चात् हम लोगों ने पता लगाया, ज्ञात हुआ, मेरे उस एक टिकट पर ही मुझे दस हजार मिलेंगे। दस रुपयों पर दस हजार की विजय! मैं अचकचा गई, प्रथम मुझे इस बात पर विश्वास न हुआ। किन्तु रुपये मिल जाने पर मुझे विश्वास करना ही पड़ा। हम तीनों ही प्रसन्न थे। हम तीनों ही एक साथ भ्रमण करते हुए वापस आए। भोजन हम तीनों ने एक साथ किया। आज प्रेम के पुनःपुनः आग्रह पर मैंने थोड़ासा ड्रिंक भी किया था। वास्तव में मेरी उस विजय ने मुझे बावला कर दिया था, मेरी बुद्धि को कुंठित कर दिया था। मेरे मस्तिष्क में न जाने उस समय कितनी कल्पनाएँ उठ रहीं थीं। मेरी बेग में उस समय दस हजार रुपये थे—दस हजार! वैसे जीवन में मुझे धन का अभाव कभी भी न रहा था। किन्तु तो भी एक साथ इतनी बड़ी धनराशि की प्राप्ति हो जाना, कोई मेरे लिए कम महत्वपूर्ण बात न थी। उस रात मैं प्रेम के बंगले पर ही रुक गई, घर आया तो फोन अवश्य कर दिया था।

दुर्घटना से पूर्व मैं समझती थी, कि यह रात्रि मेरे जीवन की सबसे मधुर रात्रियों में से है। किन्तु आज मेरा विचार है कि वास्तव में वह रात्रि ही मेरे दुर्भाग्य का प्रथम सोपान थी। इसी रात्रि को प्रथम बार मैंने निःसंकोच हो प्रेम के प्रेम को स्वीकार किया था।

भोजन से निवृत्ति होने के पश्चात् हम तीनों मणि के शयन

कक्ष में जा पहुँचे। मणि के कक्ष में ही मेरे सोने की व्यवस्था की गई थी। पास ही पास दो पलंग पड़े हुए थे। एक पर मैं और मणि बैठी और दूसरे पलंग पर प्रेम। मदिरा ने तीनों पर ही अपना प्रभाव प्रारम्भ कर दिया था। सम्भवत: उसका सबसे अधिक प्रभाव मुझ पर ही था। अभ्यस्त होने के कारण प्रेम पर मदिरा का प्रभाव सबसे कम था। मैंने देखा प्रेम मुझे बड़ी तल्लीनता से देख रहा है, मुझे इस समय उसका इस प्रकार से एकटक मेरी ओर देखना बड़ा भला लगा। अब मेरा संकोच दूर हो चुका था, मुझ पर मदिरा का प्रभाव पड़ चुका था। मैं भी उसे अपलक देख रही थी। सत्य कहती हूँ कि उस समय मेरे मस्तिष्क में न जाने कितने काम सम्बन्धी भाव उठ रहे थे, मैं उस समय किसी के विशाल वक्षस्थल से लिपट कर पड़ रहना चाहती थी। प्रेम मेरे भावों को समझ गया। वह अपने स्थान से उठा और मेरे पलंग पर मेरे ही समीप आ पहुँचा। मेरे पलक मदिरा के प्रभाव के कारण झपक रहे थे। मैंने अधखुले नेत्रों से देखा मणि उस स्थान से चुपचाप चली जा रही है। मैंने उसे जाते देख लिया, इच्छा हुई उसे जाने से रोक लूँ, किन्तु मैं उसे रोक न सकी, इच्छा रहते हुए भी पुकार न सकी। न जाने किस अज्ञात कारण से मैं मौन रह गई। मणि चली गई। मैं वहाँ रह गई, मैं और प्रेम, प्रेम और मैं केवल दो। और हम दोनों भी एक होने को आतुर। प्रेम मेरे समीप आकर बैठ गया था। यद्यपि उसका पास आकर बैठना मुझे भला लगा था, किन्तु न जाने किस अज्ञात भय के कारण मैं सिहर उठी थी, काँप उठी थी। मेरी यह सिहरन केवल कुछ क्षण ही रुकी। प्रेम मुझसे सटकर बैठा था। उसने मेरी ठोढ़ी अपने दायें हाथ से ऊपर उठाते हुए कहा, "तुम कितनी सुन्दर लगती हो। काश''''इसके पश्चात् उसके अधर काँपे किन्तु कुछ कह न सके।"

मुझे उसकी यह प्रशंसा अत्यन्त मधुर लगी। उस समय मुझे अपनी निर्बलता स्पष्ट दीख पड़ी। मुझे उस समय इस तथ्य का बोध हुआ, कि एक स्त्री को कुपथगामिनी बनाने के लिए उसके रूप की प्रशंसा एक अमोघ अस्त्र सिद्ध होती है। इसीलिए चतुर पुरुष नारी की इस निर्बलता से लाभ उठाते हैं। प्रेम ने भी ऐसा ही किया। उसने भी मेरी निर्बलता से लाभ उठाया। आज मैं सोचती हूँ, कि उस समय मैं क्यों मौन रही, अपने चिबुक को स्पर्श करने वाले उसके निर्लज्ज हाथ को मैंने क्यों नहीं झकझोर दिया। किन्तु यह मैं आज सोच रही हूँ। उस समय तो मैं भाव विमुग्ध थी। उसके रूप में स्वयं खोई हुई थी, तल्लीन थी।

चिबुक के पश्चात् उसने मेरे कपोलों का स्पर्श किया, तत्पश्चात् मेरे केशों में अपनी उँगलियाँ उलझाते हुए उसने कहा, "कितना स्पृहणीय है यह रूप! कितना भाग्यशाली है वह जिसको इस अप्रतिम सौन्दर्य के उपयोग का अवसर प्राप्त हुआ। किन्तु उस हृदयहीन ने इस सौन्दर्य का मूल्य नहीं जाना, तभी तो वह पत्ते चाटने के लिए इसे प्रवंचित कर उन्मुख विचरण करने चल दिया''''उसके इन शब्दों ने मेरे मानस को, मेरे हृदय को झकझोर दिया। "क्या वास्तव में मेरा पति हृदयहीन है। उसने मेरा, इस अप्रतिम रुप का तिरस्कार किया है। क्या यह सत्य है कि वह मुझे छोड़ कर जूठे पत्ते चाटता है। क्या वह! ओह! उसने मुझे प्रवंचित किया। उसने मेरा अपमान किया, मेरे इस रूप का अपमान किया। और मैं नारी हूँ, सब कुछ सहन कर सकती हूँ किन्तु अपने रूप का अपमान नहीं सह सकती। अपने पति के द्वारा भी नहीं। वह मेरा पति नहीं है, जूठे पत्ते चाटने वाला मेरा पति नहीं हो सकता। मैं उससे घृणा करती हूँ''''घृणा करती हूँ मस्तिष्क में यह विचार आते ही मैं उत्तेजित हो उठी। उत्तेजना के कारण मेरे अधर फड़क उठे। कपोलों पर अरुणिमा छा गई।

प्रेम मेरे इस रूप से और भी उत्तेजित हो उठा। उसका सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो उठा। उसने अब बिना कुछ विचार किए अपनी दोनों भुजाओं को मेरे कंठ में डाल कर मेरे मुख को अपनी ओर खींचा और फिर···अपने उत्तप्त अधरों को मेरे अरुण अधरों पर रख दिया। मैंने इसका भी कोई विरोध नहीं किया। विरोध करना तो दूर, मैं स्वयं ही उसके मधुर चुम्बन में अपने अस्तित्व को खो चुकी थी और इसके पश्चात् क्या हुआ मुझे स्मरण नहीं, स्मरण भी है तो मैं बतला नहीं पाऊँगी।·······बस इतना ही आप जान लीजिए इस रात्रि के बाद मैं उसकी हो चुकी थी, शरीर और मन दोनों से ही।

प्रातः जब मेरी नींद खुली तो सात बज चुके थे। वे उठकर चले गए थे, मणि भी उठ चुकी थी। यहाँ मैंने प्रेम के लिए "वे" शब्द का प्रयोग किया है। इससे आप चौंकें नहीं। वास्तव में उस रात्रि के पश्चात् मैं उन्हें अपना "वे" ही समझने लगी थी। न जाने किन संस्कारों से वशीभूत होकर मैं उन्हें अपना पति मान बैठी थी। मुझे उस समय कुछ ऐसा भास हो रहा था, कि हम दोनों कितने ही पूर्व जन्मों से पति-पत्नी रहे हैं। एक रहे हैं, अभिन्न रहे है। किन्तु इसी समय नवल की स्मृति ने मुझे झक-झोर दिया। ओह मैं पत्नी तो नवल की हूँ, उसी की तो परिणीता हूँ, मैंने उसी से तो सम्पूर्ण जाति वालों के भी विरोधी होने पर सिविल मैरिज की है। क्या अब मैं उसकी पत्नी नहीं रही। इस प्रश्न ने मेरे मस्तिष्क को झकझोर दिया। मैं विद्रोही हो उठी! मेरे हृदय में यह भावना उठी, "नहीं, नहीं, मैं उसकी पत्नी नहीं हूँ, कदापि नहीं हूँ। मैं ऐसे पुरुष की पत्नी नहीं हो सकती, जो जूठे पत्ते चाटता घूमे, जो मेरी भावनाओं का आदर न करे, जो अपनी परिणीता के रहते हुए दूसरे से नेह करे·······मैं ऐसे व्यक्ति से प्रेम नहीं कर सकती·······मुझे उससे घृणा है·······घृणा है।"

मेरी विचारधारा कुछ रुकी। उत्तेजना कुछ कम हुई। मैंने ठंडे हृदय से विचार किया। मुझे दीख पड़ा। "क्या दोषी मैं नहीं हूँ। मैंने भी तो अपने पति के साथ विश्वासघात किया है। उनकी अनुपस्थिति में मैंने दूसरे से नेह बढ़ाया, इतना ही नहीं मैंने दूसरे व्यक्ति को अपना शरीर सौंप दिया, अपना शील सौंप दिया, अपना निजत्व, अपना सर्वस्व उनकी अनुपस्थिति में दूसरे को दे दिया। मैं जब एक की विवाहिता पत्नी थी, तो मुझे क्या अधिकार था कि मैं उनकी धरोहर को दूसरे को दे दूँ, मुझे क्या अधिकार था कि उनकी होकर, उनकी अनुपस्थिति में किसी दूसरे की हो जाऊँ, किसी दूसरे का वरण कर लूँ। वास्तव में दोष मेरे पति का नहीं है।·······मेरा है।" अन्तिम शब्दों ने मेरे "अहं" को झकझोर दिया। "मेरा दोष।" "नहीं, नहीं, मैं निर्दोष हूँ, सम्पूर्ण दोष नवल का है। उसी ने तो पहल की। मुझे तो विवश होकर दूसरे की पर्यंकशायिनी बनना पड़ा। वह क्यों मुझे छोड़कर चला गया। उसे क्या अधिकार था मेरे रहते हुए "जूठे पत्ते" चाटने का। नहीं······ नहीं, अपराधी वह है, मैं नहीं। मैंने तो वही किया है, जो उन्होंने किया है। मैं अब उनकी चिन्ता नहीं करती, मैं उन्हें तलाक दूँगी·······और·······और मैं कुछ रुकी। और·······और·······इसके आगे क्या होगा यह मैं विचार न कर सकी। "क्या प्रेम मुझसे विवाह करेगा। क्या नवल मुझे सरलता से तलाक दे देगा।·······मन ने समझाया" नवल से तलाक तो मिल ही जावेगा, चाहे वह रो कर दे अथवा हँसकर। तलाक तो उसे देना ही होगा। मैंने सिविल मैरिज की है, मुझे तलाक पाने का पूर्ण अधिकार है। किन्तु क्या तलाक के पश्चात् प्रेम मुझसे विवाह कर लेगा। "मन ने पुनः धीरज बंधाया, अवश्य करेगा, उसे तो तेरी ऐसी ही एक पत्नी चाहिए भी। मणि भी तो यही चाहती है।" यह विचार आते ही मैं पुलकित हो उठी।

मैं अभी तक अलसाई हुई अपने पलंग पर ही पड़ी यह सब विचार कर रही थी। वैसे मैं आज हृदय से प्रसन्न थी। क्यों? यह ज्ञात नहीं। रात्रि की सुखद स्मृतियों के कारण। सम्भव है। मैं अभी इसी विचारधारा में तल्लीन थी कि मणि ने मुझे झकझोरते हुए कहा, "भाभी" भाभी, क्या सोती ही रहोगी। अब उठो भी.......मैं अब हड़बड़ा कर उठ बैठी। मैंने अपना बचाव करते हुए कहा, "मैं उठ तो पड़ी थी किन्तु अलसाई हुई पड़ी रही, न जाने क्या सोचती हुई......."

"भाभी, अब सोचना क्या। अब तो मैं सचमुच अपनी भाभी बनाकर छोड़ूँगी।" इसके पश्चात् उसने मेरी नाक को अपने हाथ से दबाते हुए कहा था, "अब कहाँ जाओगी भाभी।......." इसके पश्चात् वह मुझे मुँह बिचका कर हँस दी। उसकी उस विचित्र मुद्रा को देखकर मुझे भी हँसी आ गई। मैंने हँसते हुए कहा, "तेरी ऐसी नन्द मुझे मिले और.......मैं भाभी बनने से पीछे हट जाऊँ। यह कैसे सम्भव है।" मैं कुछ और कहने वाली थी कि उसने आगे कहना प्रारम्भ कर दिया। "मेरी ऐसी नन्द। वाह, खूब कही। और मेरे भइया ऐसे पति.......यह कैसे कहोगी। कह भी तो नहीं पाओगी......." उसकी यह बात सुनकर लजा गई थी। सिर स्वयं ही नीचे झुक गया था, उसने मेरा सिर ऊपर उठाते हुए मुसकराते हुए मुझसे कहा, "क्या मैं झूठ कहती हूँ, भाभी।" इसके पश्चात् मेरी आँखों से अपनी आँखें मिलाते हुए वह बोली, "समझ गई, अब क्या करोगी कहकर। इन बेवफा आँखों ने सब कुछ तो कह दिया। कहाँ तक छिपाओगी भाभी। किन्तु मेरी भाभी मुझे भूल तो नहीं जाओगी। मेरे भइया....... इसके पश्चात् वह कुछ न कह सकी, भाव विभोर हो उठी। मैं भी आद्र हो उठी। मेरे मुख से अनायास ही निकल गया, "कैसी बच्चों ऐसी बातें करने लगी मणि! यह अच्छा नहीं लगता।"

यह कहकर मैंने उसे कस कर अपने से लगा लिया। हम दोनों कितनी देर ऐसे ही सुधबुध खोए निश्‍चिंत भाव से बैठे रहे, यह मुझे स्मरण नहीं। हम लोगों का ध्यान टूटा उनकी आवाज पर। वे बाहर से कह रहे थे, "क्या आज चाय नहीं पीनी है, सोती ही रहोगी।"

हम दोनों हड़बड़ा कर उठ खड़े हुए। मैं नित्य कार्यों से निवृत्त होने को और मणि अपने भइया को बतलाने को चल दी।

इस घटना के पश्चात् प्रेम के यहाँ मेरा नित्य का आना-जाना और बढ़ गया। उस समय मैं अपने बच्चों को, अपने पति को, यहाँ तक स्वयं अपने आप को भूली हुई थी। मुझे उस समय संसार के प्रत्येक कोने पर प्रेम का ही वास दीखता। मेरे अन्तर में, मेरे शरीर में, मेरी विचारधारा में, अब केवल एक ही पुरुष था प्रेम। मैं अब कोई भी कल्पना प्रेम के अभाव में न कर सकती। मेरे प्रत्येक दिवा-स्वप्न में मेरी प्रत्येक कल्पना में प्रेम होता, नवल नहीं। नवल का नाम अब मुझे कुछ अटपटा-सा अपरिचित-सा लगने लगा था। अहिर्निश हम लोग भ्रमण में ही तल्लीन रहते। एक दिन संध्या को हम दोनों का "बालडांस" में जाने की योजना बनी। संभ्रात व्यक्ति इस डांस में भाग लेने जाते हैं, यह मैं जानती थी, किन्तु आज तक मैं उसमें कभी सम्मिलित नहीं हुई थी। अब अधिकांशत: केवल मैं और प्रेम ही, भ्रमण को जाते थे, मणि अकेली रह जाती थी। वह भी उन्मुक्त विचरण को स्वतन्त्र थी, पूर्ण स्वच्छन्द थी। मुझे आश्चर्य हुआ कि वह हम लोगों के साथ न जाकर भी मुझसे प्रसन्न थी। मेरी शंका थी कि कहीं वह मुझसे रूठ न गई हो। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। एक दिन अवसर पाकर इस विषय में मैंने मणि से पूछ भी लिया था, "क्यों मणि, मुझसे रुष्ट तो नहीं हो।"

"क्यों भाभी।" उसने हँसते हुए कहा था, "भला, मैं क्यों रूठने लगी। मेरा काम समाप्त हो गया, अब आप दोनों के बीच में आने वाली कौन? इसके पश्जात् उसने मेरे चुटकी लेते हुए कहा, "जब मियाँ बीबी राजी, तो क्या करेंगे काजी"। उसकी इस बात से मैं लजाकर मौन रह गई।

हाँ, तो मैं डाँस क्लब जाने की बात आप लोगों को बतला रही थी। हम दोनों आठ बजे लगभग क्लब में पहुँच गये। उस समय क्लब कितने ही स्त्री-पुरुषों से खचाखच भरा था। परिचित और अपरिचित दोनों ही प्रकार के लोग थे उसमें। जब कोई मेरा परिचित मेरे सामने पड़ जाता, तो मैं उससे अधिक से अधिक छिपने का प्रयास करती। हाव-भाव से ऐसा प्रदर्शित करती कि मैं उसकी परिचित नहीं हूँ, अथवा मैं ऐसी चेष्टाएँ करती कि वह नवल की पत्नी शैल नहीं, कोई अन्य महिला है। मैं अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल रही कह नहीं सकती। किन्तु इतना अवश्य है कि उस दिन मेरा यह संकोच केवल एक घंटा मात्र रहा, इसके पश्चात् मैं यह विचार कर निस्संकोच हो गई थी, भय क्यों करूँ? मुझे जब प्रेम से प्रेम हो गया है, तो छिपाऊँ क्यों? एक न एक दिन यह बात प्रकट होनी ही है, मुझे नवल से तलाक लेना ही है, फिर इन सब चेष्टाओं से लाभ? मैं किसी की चिन्ता नहीं करती, मुझे जो कुछ करना है निस्संकोच, निर्भय, निर्द्वन्द्व करूँगी, देखें मेरा कोई क्या बिगाड़ लेगा। मैं तो अपने प्रेमी के साथ-साथ,.........नहीं.........नहीं अपने पति के साथ ही तो विचरण कर रही हूँ। प्रेम.........प्रेम मेरा पति है, प्रेम मेरा पति है....... मैंने उसका वरण किया है, तन और मन दोनों से ही। मैं उसे अपना शरीर सौंप चुकी हूँ, हृदय सौंप चुकी हूँ, स्वयं अपना अपनत्व, अपना निजत्व, अपना सर्वस्व भी तो दे चुकी उसे.........फिर भयभीत होऊँ। इस संसार के इन तुच्छ

प्राणियों से, इन कठपुतलियों से।........नहीं, कदापि नहीं। हम दोनों तो जन्म-जन्मान्तर से एक रहे हैं, अभिन्न रहे हैं,........फिर आज भय क्यों। संस्कारों के कारण ? अपनी निर्बलता के कारण ? विश्वासघात के कारण ? ....ओह........नहीं मुझे भय नहीं है, मैं किसी से भयभीत नहीं हूँ........इस प्रकार मैंने अपने हृदय के भय को झुठला दिया। अपने को मैं इस प्रकार धीरज बंधा ही रही थी, कि किसी का परिचित कंठ सुनाई पड़ा। देखा नवल के मित्र कमांडर यज्ञदत्त सपत्नीक हम लोगों के सामने खड़े हैं। कमांडर यज्ञदत्त प्रेम के भी मित्र थे। अतः दोनों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा, "ओह, सम्भवतः सूर्योदय आज पश्चिम से हुआ था, तभी यह जोड़ा आज इस क्लब में दीख पड़ रहा है।" कुछ रुक कर उन्होंने प्रेम से हाथ मिलाते हुए कहा, "भई, कहाँ रहे। कभी-कभी यहाँ भेंट हो जाती थी, वह भी........" मैं उन लोगों की इतनी ही बात सुन पाई थी, कारण मैं स्वयं श्रीमती यज्ञदत्त के साथ बातें करने में व्यस्त हो गई थी।

कुछ क्षणों के पश्चात् नृत्य प्रारम्भ हुआ। मैंने अपना प्रथम नृत्य प्रेम के साथ ही किया। उन्होंने सरलता से मेरी कमर में हाथ डालकर अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ नृत्य प्रारम्भ कर दिया। मैंने एक बार उनसे धीरे से कहा भी, "मुझे यह नृत्य नहीं आता। मैं कैसे नाच सकूँगी।"

उन्होंने भी धीरे से उत्तर दे दिया, "मैं तो जानता हूँ देखती चलो, अभी दो मिनट में तुम भी नाचना सीख जाओगी"।

मैंने देखा उनका कहना पूर्ण सत्य था। मैं ताल की गति के साथ-साथ स्वयं ही पैर मिलाती हुई नाचने लगी थी। उन्होंने मुझे नृत्य के समय एक दो संकेत किए। मैं कुछ ही क्षणों में पूर्ण तन्मयता के साथ उनके साथ नृत्य करने लगी थी। मुझे लगा कि इस व्यक्ति के साथ नाचने में मैं कुछ ही क्षणों में नृत्य

करने में पूर्ण निपुण हो गई हूँ। उनके प्रति मेरा मस्तक आदर से नत हो गया।

मैंने उस दिन तीन बार नृत्य किया। तीनों बार प्रेम के साथ। मेरे थक जाने पर भी प्रेम ने दो बार दूसरी लड़कियों के साथ नृत्य किया। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अन्य लोगों के आह्वान पर भी जो लड़कियाँ उन लोगों के साथ नृत्य करना पसन्द नहीं करती थीं, वे ही प्रेम के साथ नृत्य करने को उत्सुक हैं। स्त्रियों में प्रेम कितना लोकप्रिय है, यह मुझे उस दिन ही ज्ञात हुआ। प्रेम जब एक दूसरी सुन्दरी के साथ नृत्य कर रहा था, तब न जाने क्यों मुझे उनसे ईर्ष्या हो रही थी। कुछ क्रोध भी आ रहा था। "प्रेम मुझे छोड़कर क्यों दूसरे के साथ नृत्य करने को प्रस्तुत हुआ।······ देखो न, मेरे सामने ही वह कितनी सुदृढ़ता से उससे प्रेमालाप कर रहा है। वह लड़की भी कितनी बेशर्म है। कितने तीक्ष्ण नेत्र कटाक्ष छोड़ रही है।···· नीच, बेशर्म, हया तो घोलकर पी गई है। दूसरे पुरुष से प्रेमालाप करते हुए इसे लज्जा भी नहीं आती।········क्रोध से मेरा चेहरा लाल हो गया था। इसी समय प्रेम नृत्य करता हुआ, दूसरे जोड़ों को बचाता हुआ मेरे बिलकुल समीप आ गया। वह नृत्य में तल्लीन था, किन्तु वह स्त्री·······वह कुलटा·······मेरी ओर देख-देख कर मुस्करा रही थी, मानो सगर्व कह रही थी·······देख तेरे सामने मैंने तुझे पराजित किया···मैंने तुझे पराजित किया···· पराजित किया·······यह विचार आते ही मैं व्याकुल हो उठी। मुझे अकस्मात एक चक्कर सा आ गया और मैं हाथ टेककर पास ही पड़ी एक कुर्सी पर बैठ गई। "क्या मैं वास्तव में पराजित हुई ?········'नहीं········'मेरे अहं ने उत्तर दिया। प्रेम मेरा है, केवल मेरा। उस पर कोई दूसरा अधिकार नहीं कर सकता।···· दूमेरे होते हुए सरे का अधिकार असह्य ! मैं यह न होने दूँगी ····

नहीं, कभी नहीं, कदापि नहीं।......किन्तु इसी समय मेरी स्मृति के समक्ष नवल आ खड़ा हुआ, मानो वह मुस्कुराता हुआ कह रहा हो। "शैल ! यह सब तुम्हें असह्य है, किन्तु मेरी अनुपस्थिति में दूसरे से तुम्हारा प्रेम करना क्या मुझे सह्य होगा। क्या तुम्हें दूसरे की होती मैं देख सकूँगा। मेरे रहते हुए तुम दूसरे की....मुझे ऐसा लगा इतना कहकर वह स्मृति चित्र अट्टहास करके हँसा हो।...... मैं पुनः उठ खड़ी हुई। देखा, प्रेम अब किसी दूसरी लड़की के साथ नृत्य कर रहा है।...... मैंने इस बार इस दृश्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखा और वहाँ से उठकर चल दी। मैं अभी, दस कदम ही चल पाई थी कि दो व्यक्तियों की कुछ बातें सुनकर मैं ठिठक गई। वे कह रहे थे, "यार किस्मत वाला तो यह प्रेम है। कितनी नई नवेली उसे मिल चुकी हैं। आजकल कमान्डर नवल की पत्नी को फांसे हुए है, उसे भी चूस कर छोड़ देगा ....
मैं यह सुनकर काँप गई। मुझसे इन लोगों की बातें और अधिक न सुनी गईं। मैं तेज डग भरते हुए शीघ्र ही दूसरे स्थान पर चली गई।

कार्यक्रम समाप्त होने के पश्चात् प्रेम मेरे पास आया। मेरी विवर्ण आकृति देखकर वह चीख पड़ा, "ओह, क्या हुआ आपको ? क्या आप कुछ अस्वस्थ हैं।"

"कुछ सिर दर्द होने लगा।" यह कहकर मैंने बात टाल दी।

उसने मेरे हाथ को अपने हाथ में भरते हुए कहा, "चलिए, रात्रि में देर तक जगने-जागने से सिर कुछ भारी हो गया होगा। एक नींद लेते ही सब ठीक हो जावेगा।

"मुझे आज मेरे बँगले पर छोड़कर आप निकल जाइएगा। आया से मैं कहकर भी नहीं आई थी।" अपने क्रोध को दबाते हुए मैंने केवल इतना ही कहा।

प्रेम मेरे अनुरोध पर मुझे मेरे बंगले पर छोड़कर चला गया। आया मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मेरे तीनों बच्चे सो गए थे। मुझे कुछ व्याकुल देख कर मेरी आया ने मेरे स्वास्थ्य के बारे में मुझसे पूछा। "सर दर्द" का बहाना कर मैंने उसे भी टाल दिया। मैं उसे दूसरे कमरे में सोने को कह अपने शयन कक्ष में आ गई। मेरे तीनों बच्चे उसी में सो रहे थे। कमरा अंधकारमय था। मैंने प्रकाश किया। प्रकाश नेत्रों में लगते ही मेरा बड़ा बच्चा कुनकुना कर उठ बैठा। मुझे सामने देखकर उसने सुबकते हुए कहा "मम्मी, अब हम भी आपके संग चला करेंगे, यहाँ अकेले मन नहीं लगता। न यहाँ आप न पापा..........हम भी चला करेंगे आपके साथ आगे से......" इतना कहते हुए वह मुझसे चिपट कर रो पड़ा। मैंने अपने इस बच्चे का नाम आलोक रखा था। प्रथम सन्तान होने के कारण मुझे उससे बहुत लगाव था। अभी यद्यपि छै-सात वर्ष का ही था, किन्तु था बहुत समझदार। उसे व्याकुल देखकर मेरी व्याकुलता और बढ़ गई। मैंने उसे चुचकार कर अपने समीप ही सुला लिया। माँ के आंचल में आने पर वह तो सो गया, किन्तु मैं.......... । मैं आज अपने पर ही खीझ रही थी। मैं सोच रही थी कि मेरे इन बच्चों ने मेरी क्या हानि की है, इन्होंने मुझे क्या दुःख दिया है। इन छोटे-छोटे मासूम बच्चों ने तो मुझे नहीं छला। फिर मैं इनको क्यों भूल रही हूँ। मैं इन्हें क्यों दण्ड दे रही हूँ, मैं इन्हें क्यों प्रवंचित कर रही हूँ। "प्रवंचित" ! इस शब्द ने मेरे मानस को झकझोर दिया। क्या सचमुच ही मैंने इन अबोध बालकों को प्रवंचित किया है। "नहीं.......नहीं यह झूठ है।" मेरे "अहं ने इसका उत्तर दिया। किन्तु इस समय मातृत्व ने अहं की बात का प्रतिवाद किया "असत्य, यह बिल्कुल सत्य है। तू माँ है, इन बच्चों की जननी है, क्या तूने कभी विचार किया है कि तेरा भी इनके

प्रति कुछ कर्तव्य है। क्या तूने यह कभी सोचा है कि तेरी अनुपस्थिति में तेरे इन लाड़लों का क्या होता होगा? क्या यह तेरे बिना व्याकुल नहीं होते होंगे। क्या यह "मम्मी"''मम्मी''''" कह कर तुझे पुकारते नहीं होंगे''''''और और''''जब यह छोटे''''छौने मम्मी के लिये हाथ फैलाकर रोते होंगे और उनको मिलती होगी आया''''आया। तू सोच सकती है इन पर इसका क्या प्रभाव पड़ता होगा? तू माँ है, किन्तु तेरा हृदय''''क्या उसमें कहीं भी मातृत्व का भाव है? नहीं''''''तब तुझे जननी बनने का क्या अधिकार था? ''''मेरा "अहं" इस प्रतिवाद को सहन न कर सका। कोई मेरे अधिकार को चुनौती दे, यह मुझे सह्य कैसे हो सकता था, भले ही वह स्वयं मेरा मातृत्व का ही भाव क्यों न हो। उसने इस बात का प्रतिरोध किया, "मैं अपने अधिकार को जानती हूँ। बच्चों का लालन पालन ठीक हो रहा है, इतना भर मैं जानती हूँ। इसके आगे न मेरी जानने की इच्छा है और न जानना ही चाहती हूँ''''''मैं नहीं चाहती कि कोई मुझे मेरे अधिकार को चुनौती दे, मेरे प्रेम की निन्दा करे, मुझे मार्ग दिखाए''''। मैं''''मैं किसी से भी परामर्श लेना नहीं चाहती, मैं स्वयं स्वतन्त्र हूँ, निर्द्वन्द्व हूँ, निश्चिन्त हूँ, मैं जो करती हूँ ठीक करती हूँ, अपना भला-बुरा देख कर करती हूँ''''" मुझे लगा मेरी यह बात सुनकर मेरा पत्नीत्व, मेरा मातृत्व अट्टहास करके हँस पड़ा हो। किन्तु मैंने उसकी उपेक्षा की, मैंने नहीं मेरे "अहं" ने, मेरी स्वतन्त्रता ने, अन्त में कहूँगी, मेरी वासना ने। किन्तु यह "वासना"। क्या मैं सत्य ही वासना से पराभूत हूँ। क्या वास्तव में क्षुद्र वासना मुझे आक्रान्त कर चुकी है। "वासना''''" "मेरे मन ने मुझे धीरज बँधाया, "नहीं, नहीं वासना ने नहीं, मैं तो प्रेम से पराजित हुई हूँ। और''''और यह प्रेम। इस पर किसका अधिकार है''''यह तो अनचाहे, अनजाने ही आ

जाता है। क्या वास्तव में मैं केवल प्रेम से पराभूत हूँ। उसमें वासना नहीं है। क्षुद्रता नहीं है। प्रेम ! प्रेम में त्याग है, तल्लीनता है, जीवन के प्रति ममत्व है, जगत के प्रति स्नेह का भाव है। किन्तु क्या सभी भाव मेरे प्रेम में हैं। क्या मैंने प्रेम का प्रथम अक्षर भी हृदयंगम कर पाया है ? क्या मैंने प्रेम के प्रथम पाठ को, उसके प्रथम भाव को भी अपने जीवन में उतार पाया है ? सम्भवत: नहीं। फिर कौन कहता है कि मैं प्रेम से पराभूत हूँ ? वास्तव में यह प्रेम नहीं वासना है""केवल लोलुपता है, मांसलता है ! क्या प्रेम में वासना नहीं होती। यदि वासना नहीं होती तो स्त्री पुरुष में, बिपरीत लिंगियों में ही प्रेम क्यों होता है ? दो पुरुषों में ही क्यों नहीं होता ? और यदि प्रेम वासना से परे है तो वह केवल है भक्ति-प्रेम नहीं। मैं भक्ति नहीं करना चाहती। मैं करना चाहती हूँ प्रेम और चाहती हूँ उसका प्रतिदान, भले ही वह वासना से पूर्ण हो। इन विचारों ने मेरे सम्पूर्ण मानस को झकझोर डाला। इसी समय मुझे आज की, नृत्य समय की घटना स्मरण हो आई। उसके स्मरण मात्र से मैं काँप उठी। "क्या वास्तव में प्रेम मुझसे विवाह करना चाहता है। अथवा वह केवल अपनी वासना की तृप्ति करना चाहता है। उसे लोग भला आदमी नहीं कहते""क्या वास्तव में वह""""वे खराब हैं, दुश्चरित्र हैं""" मेरे इन विचारों का प्रतिवाद किया मेरी वासना ने, मेरे हृदय की छलना ने "नहीं, वे भले हैं, देवता हैं, देवता हैं। लोग व्यर्थ ही उन्हें बुरा कहते हैं।""उन्होंने आज कोई अवांछनीय कृत्य नहीं किया। नृत्य के आयोजन में किसी के साथ नृत्य करना कोई अपराध नहीं है। किसी दूसरे के प्रेम का प्रतीक नहीं है ! और उन्होंने यदि किसी दूसरे के साथ नृत्य किया तो मेरे सामने ही तो। यदि उनके हृदय में किंचित् मात्र कलुष होता तो मुझे ले ही क्यों जाते ? मैं" मैं तो उनकी हो ही चुकी थी, आत्म समर्पण

कर ही चुकी थी। नहीं " वे मेरे हैं, केवल मेरे हैं। वे निश्चित रूप से मुझसे विवाह करेंगे।" मन के इस प्रकार धीरज बँधाने पर मुझे एक विचित्र प्रकार की शान्ति मिली, व्याकुलता समाप्त हुई। और मैं किस समय भावों में निमग्न निद्रा मग्न हो गई, मुझे स्मरण भी नहीं।

दूसरे दिन जब मैं सोकर उठी तब आठ बज चुके थे। आया बच्चों को तैयार कर चुकी थी। आलोक मुझे निद्रा मग्न देख कर चुपचाप आया के पास चला गया था। मैं उठी। नित्य कार्यों से निवृत्त होने के पश्चात् मैंने पिछले दिन की डाक देखी। मेरे नाम केवल एक पत्र था, मेरे पति का। नहीं......नहीं नवल का उसमें उन्होंने एक माह तक और बाहर रहने की बात लिखी थी। यह पढ़कर मुझे न जाने क्यों आनन्द हुआ। "एक माह ....चलो अच्छा ही है। उन्हें जूठे पत्ते चाटने दो और मुझे .... मैं भी तो स्वच्छन्द हूँ, स्वतन्त्र हूँ, उन्मुक्त हूँ........" यह सोचकर मैं हँस पड़ी।

मैं अभी अपने बच्चों के साथ बैठी चाय पी ही रही थी कि बाहर कार आने की ध्वनि सुनाई पड़ी। आया ने बतलाया मणि और प्रेम आए हैं। मैंने उन दोनों को भी चाय पर ही बुला लिया। यद्यपि वे दोनों ही चाय पीकर आये थे किन्तु मेरे विशेष आग्रह पर वे मेरे साथ पुनः चाय लेने को बैठ गए। चाय की चुस्कियाँ लेते हुए हम लोग चर्चा करते रहे। प्रेम ने बतलाया कि वह एक-दो दिनों में दिल्ली जाने वाला है, शायद मणि भी जाय। वह कार द्वारा ही जा रहा था, उसने मुझसे भी साथ चलने का अनुरोध किया। किन्तु मैंने इच्छा रहते हुए भी उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। प्रथम मेरे मन में आया कि कह दूँ कि मैं भी चलूँगी, किन्तु न जाने क्या विचार कर मैं रह गई, बिना कुछ कहे ही। कुछ सोचती रही, फिर अनायास ही

कह गई, "अभी तो मैं नहीं जा सकूँगी, किन्तु यदि दिल्लीानजा हुआ तो आप लोगों से अवश्य मिलूँगी। हाँ आप लोग दिल्ली में रुकेंगे कहाँ ?"

"वैसे तो मैं "अशोक "में रुकता हूँ। अब देखिए कहाँ रुकूँ। कह नहीं सकता"। यह कह कर प्रेम मौन हुआ।

"कितने दिनों का प्रोग्राम है।"

"अभी तो दस दिन का ही बना है। सम्भव है कुछ अधिक लग जायँ।"

"दस दिन।" मैं कांप उठी "दस दिन का बिलगाव, मुझसे सहन कैसे होगा ? नहीं मैं इन्हें जाने नहीं दूँगी।" फिर एक विचार आया तू स्वयं क्यों नहीं चली जाती इनके साथ ? कितने आग्रह से निमन्त्रण दे रहे हैं तुझे। कह दे चलूँगी, किन्तु लज्जा के कारण कह न सकी। उनसे अब लज्जा क्या थी। लोक-लज्जा के कारण मैं कह न सकी। मैंने सोचा, "लोग इनके साथ साथ बाहर जाते देख न जाने क्या-क्या कहेंगे, मैं उन आलोचनाओं के भय से काँप उठी। नहीं मैं नहीं जाऊँगी........." मैंने सोचा। किन्तु उनसे मैंने कहा, "दस दिनों तक बच्चों को अकेले आया पर छोड़ना उचित नहीं है। इनका समुचित प्रबन्ध करने के पश्चात् मैं कभी और चलूँगी।...... अब तो आपके साथ घूमना ही है।" इतना कह कर मैं उनकी ओर बंकिम कटाक्ष करते हुए मुस्कुराई।

वे भी मेरी बात को सुनकर कुछ मुस्कुराए, किन्तु मौन रहे। मणि अवश्य खुल कर हँस पड़ी थी। उससे न रहा गया "हाँ, भाभी अब तो साथ होगा ही !"

इसके पश्चात् कुछ बातें और हुईं। मैंने उनसे बात ही बात में उन सभी स्थानों का पता पूछ लिया था, जहाँ वे आवश्यकता पड़ने पर दिल्ली में प्राप्त हो सकते थे। उस दिन

उन्हें किसी अन्य मित्र से मिलना था, अतः वे मेरे समीप अधिक नहीं रुके। चलते समय वे यह अवश्य कहते गए "जाते समय आपसे मिलकर जाऊँगा"।

दूसरे दिन जाते समय वे मुझसे मिलने आए। मेरा मन हुआ अब भी समय है, इनके साथ हो लूँ। किन्तु मैं उनके साथ जा न सकी वे चले गए। मैंने डबडबाए हुए नेत्रों से उन्हें विदा दी। वे भी भाव-विभोर हो उठे थे। उनके अधर मेरे अधरों से मिलने को आतुर लगते थे, किन्तु सभी की उपस्थित में......। हम दोनों को ही अपनी हार्दिक भावनाओं को दबाना पड़ा। वे भावों को साथ लिए चले गए। मेरे देखते-देखते उनकी कार नेत्रों से ओझल हो गई। मैं निर्निमेष उसी ओर देख रही थी, कार के नेत्रों से ओट होते ही मेरे मस्तिष्क को एक धक्का लगा। किन्तु समीप खड़े अन्य लोगों को देखकर मैं शीघ्र ही प्रकृतिस्थ हो गई थी।

वे चले गए। स्वयं गए तो गए ही साथ ही मेरे हृदय को भी अपने साथ लेते गए। अब रह गई थी केवल मैं, प्रेम से विहीन। मैंने यह कभी कल्पना भी तो नहीं की थी, कि प्रेम का अभाव मुझे इतना अखरेगा। मैं उसके अभाव में इतनी व्याकुल हो उठूँगी। सत्य कहती हूँ मैं आजकल अपने पति नवल के वियोग में भी कभी इतनी व्याकुल नहीं हुई थी। मैं नवल के वियोग की तो अभ्यस्त हो चुकी थी और सत्य तो यह है कि उनके नित्यप्रति के वियोग के कारण ही मुझको उनसे विराग हो गया था। आप विश्वास करें, न करें किन्तु इतना सत्य है कि प्रेम के प्रति मेरे हृदय में इतना आकर्षण, इतना ममत्व, इतना प्रेम का भाव आ गया था कि मेरे जीवन में ऐसा कभी नहीं हुआ था। नवल के प्रति भी नहीं। मैं स्वीकार करती हूँ कि प्रथम नवल के प्रति भी मेरा प्रेम कम न था। हम दोनों एक प्राण दो शरीर हो

गए थे। किन्तु न जाने क्यों इस बार अपनी ओर से मुझे कुछ अधिक खिंचाव ज्ञात हो रहा था।

"प्रेम के जाने के दिन ही से मैं अधीर हो उठी। अपनी व्याकुलता छिपाने का मैं प्रयत्न कर रही थी, किन्तु मैं अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो पा रही थी। खीझती, अकुलाती कभी ऊपर जाती तो कभी नीचे। चित्त की चंचलता कुछ कम हो इस कारण से कभी बाहर चली जाती, किन्तु दो क्षण पश्चात् ही पुनः अन्दर आ जाती।" "अन्ततः मैं थक कर एक कुर्सी पर बैठ गई। आलोक मेरे समीप ही खेल रहा था। उसने मेरे मुख की ओर बड़े ध्यान से देखा। उसने न जाने क्या मेरे मुख पर देखा कि दौड़कर मुझसे लिपट गया। आज तक इतने भावावेष में कभी नहीं आया था। मैंने उसे अपने हृदय से लगा लिया। मेरा स्नेह पाकर वह रो पड़ा। सिसकते हुए बोला—मम्मी, आप रोती हैं, भला क्यों ? क्या मुझसे आप "……?" पूरी बात कह भी न पाया था कि उसका गला रूँध गया। मैं उसकी इस विह्वलता के समय अपनी व्याकुलता भूल गई। मैंने उसे ढांढस बँधाते हुए कहा, नहीं बेटा नहीं, कोई बात नहीं, मैं ठीक हूँ, किन्तु तू क्यों रो पड़ा ? मैंने इतना कहकर उसके मस्तष्क को स्नेह से चूम लिया।

अपने बच्चों में दिन भर तो मैं प्रेम को भूली रही, किन्तु सध्या समय फिर उनकी याद आ गई। मैंने अपने हृदय को अत्यधिक कठोर बनाने का प्रयत्न किया। प्रेम की प्रत्येक स्मृति को मैं भुलाने की चेष्टा करती रही। इसी उधेड़ बुन में बच्चों को बहलाते हुए या यों कहिए बच्चों में अपने को बहलाते हुए मैंने दो दिन और दो रातें काट दीं। तीसरे दिन दिल्ली से प्रेम का पत्र प्राप्त हुआ। उस पत्र में उसने अपनी सकुशल पहुँच के समाचार के साथ-साथ अपने प्रेमिल हृदय की किंचित् व्याकुलता

भी प्रदर्शित की थी। मैं पत्र पढ़कर सुध-बुध खो बैठी। दूसरा पत्र उठाया। दिल्ली का ही था। मेरे ममेरे भाई जीवन का था। वे कई बार हम दोनों को दिल्ली आने का आमन्त्रण दे चुके थे, किन्तु मेरा पहुँचना नहीं हो पाया था। दिल्ली मेरे पति तो एक बार अवश्य जाकर उनका आतिथ्य स्वीकार कर चुके थे, किन्तु मैं न जा पाई थी। शायद मेरे सबसे छोटा पुत्र संजय होने को था। इसी कारण से मुझे विवश हो रुकना पड़ा था। इस बार भी भाई ने मुझे दिल्ली आने को निमंत्रित किया था। वे अपने प्रथम पुत्र का कोई संस्कार करने जा रहे थे, इसी कारण से मुझे सपरिवार आमंत्रित किया था। इस दूसरे पत्र को पढ़कर मेरे हृदय में अकस्मात् ही यह भाव उठा ' क्यों न मैं दिल्ली चलूँ। एक पंथ दो काज। दोनों को मैं वहाँ पहुँच कर चमत्कृत कर सकती हूँ। क्यों न चला जाय।" फिर विचार आया, "क्या बच्चों को भी साथ ले चलूँ। सपरिवार के अर्थ तो यही हुए। "किन्तु तुरन्त ही अपने इस विचार को मैंने काट दिया, "नहीं, बच्चों के साथ जाना ठीक न होगा। वहाँ प्रेम है, उसके सामने मैं मां बनी हुई पहुँचूँगी। उससे तो मैं अपने मातृत्व को बचाना ही चाहती हूँ। वह जानता है कि मैं तीन बच्चों की मां हूँ, किन्तु यह जानने से क्या हुआ। उसकी तो मैं प्रेयसी हूँ, नवेली बनने वाली हूँ, फिर उसके सामने अपने मातृत्व का प्रदर्शन क्या ठीक होगा? नहीं ······ बच्चों को मैं नहीं ले जाऊँगी······ मैंने दृढ़ निश्चय किया। इसी समय प्रेम से सम्बन्धित एक स्मृति मेरे मानस पर छा गई। "तब प्रेम से मेरे प्रेम का प्रारम्भ ही था। रेस के मैदान से हम लोग लौट रहे थे। उस समय मणि कार ड्राइव कर रही थी। मैं और वह पीछे सीट पर बैठे थे। उस समय उन्होंने मेरा हाथ दबाते हुए कहा था, "क्षमा करना, मैं आपसे एक बात पूछने का इच्छुक हूँ, आशा है आप उस पर विचार करके उत्तर देंगी।"

"पूछिए भी" मैंने वंकिम कटाक्ष उन पर डालते हुए कहा था।

वे कुछ रुके, कुछ कांपे, अधर कुछ हिले, कुछ रुके, फिर हिले, किन्तु कुछ बोल न सके। केवल वे मुझे निहारते रहे, निहारते रहे ! मैं कुछ सिहर उठी। अनायास ही मेरे मुख से निकल गया, "कहिए भी, आप सकुचाते क्यों हैं ?

"कहूँ" वे भी अनायास कह गए। फिर कुछ रुककर बोले "शल, मानों या न मानों किन्तु यह वचन दे दो कि तुम मुझसे रुष्ट नहीं होगी। मैं जो कहने जा रहा हूँ वह मेरे सच्चे हृदय की बात है। तुम चाहो तो मुझे निहाल कर सकती हो। यह कह कर वे कुछ कांपकर चुप हो गए थे।"

"जी, बात तो आप समझ ही गई होंगी, किन्तु·······किन्तु ······· मैं चाहता यह हूँ·······देखिए आप जानती हैं कि मैं····· अभी विवाह नहीं किया है ·······हाँ·······हाँ, तो मैं चाहता यह हूँ कि कोई मेरे भी जीवन में आ जाए·······मैं भी किसी के हाथों में अपने इस अरक्षित जीवन को सौंप दूँ" किन्तु······· यह कह कर वे पुनः चुप हो गए।

मैंने कहा, "अच्छा तो है, पत्नी के बिना जीवन व्यर्थ होता है। आप तो जानते ही हैं "दियर इज़ नो लाइफ विद आउट वाइफ' तो आपने कोई पार्टनर चुना ?"

"चुना तो" उसने एक लम्बी सांस लेते हुए अपनी बात प्रारम्भ की, "किन्तु, किन्तु·······काश। मैं उसे न चुनता उससे प्रेम न करता······· ।"

'क्यों ? क्यों ? क्या उसने आपका पार्टनर बनना अस्वीकार कर दिया ? भला क्यों ? मैंने साश्चर्य पूछा।

मैंने उससे अभी कहा ही नहीं है, किन्तु सोचता हूँ कहना व्यर्थ

है। अब आप ही बतलाइए मैं उससे अपने प्रेम की बात कहूँ या न कहूँ·······"

"बिना कुछ जाने मैं क्या उत्तर दूँ, मैं क्या बतलाऊँ ?······· आप मुझे उस भाग्यवान् का नाम तो बतलायें, जिसने आपके हृदय का अपहरण कर लिया है, तो मैं कुछ प्रयास भी करूँ। मैं······ मैं तो उससे आपकी सिफारिश भी कर दूँगी", यह कह कर मैं हँस पड़ी। मैंने उस समय सोचा था "कितनी भाग्यवान् होगी वह रमणी रत्न जिसको"······ प्रेम का प्यार प्राप्त होने वाला है ······।"

इसी समय प्रेम ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, "बात यों है। एक स्त्री से मैं प्रेम करता हूँ, वह भी मुझसे प्रेम करती है या नहीं, यह मुझे ज्ञात नहीं। वह रमणी अनिंद्य सुन्दरी है। मैं तो उसे रात्रि का अवतार मानता हूँ·······" वह उस रमणी की प्रशंसा करता जा रहा था और मैं अपनी कल्पना के समक्ष उस रमणी का चित्र ले आना चाहती थी। "कितनी अनुपम सुन्दरी होगी वह !" मैं विचार रही थी। मैंने अपने जीवन में आज तक जितनी भी सुन्दरी रमणियाँ देखी थीं, सभी के एक-एक करके चित्र मेरे मानस-पटल पर उभरने लगे।······· एक चित्र आता था·······किन्तु मन उसे स्वीकार नहीं करता था·······। निश्चित ही वह इन सभी से सुन्दर होगी। तभी तो इतनी प्रशंसा कर रहे हैं। मैं अभी इस सोच-विचार में थी कि उनकी कथा के इस भाग को सुनकर मेरा मन सतर्क हो गया। वे कह रहे थे·······किन्तु समस्या यह है कि वह विवाहित है। उसका पति भी सुन्दर, रूपवान एवं पूर्ण स्वस्थ है। किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है कि उसका पति उसके अद्वितीय रूप को प्राप्त करके भी पूर्ण तृप्त नहीं है।·······खैर, यह जाने दीजिए। किंतु, हाँ उसकी पत्नी को यह ज्ञात नहीं है, कि उसका पति उसके

अतिरिक्त भी किसी से प्रेम करता है ।.......मैं उसे यह बतलाना भी नहीं चाहता ।...कुछ रुककर उसने फिर कहा, "मैं-तो उसे चाहता हूँ, अब आप ही मार्ग प्रदर्शित कीजिए।" मेरी ओर कातर दृष्टि से देखते हुए, उसने कहा ।

मैंने कुछ दृढ़ता के साथ कहा, "यदि आप उस रमणी से मिलते-जुलते हैं और वह आपकी बात सुनती है तो आप उससे यह सारी बातें क्यों नहीं कह देते ।....... आप उसके समक्ष अपने प्रेम के प्रस्ताव को भी रख सकते हैं.......और यदि उसे आप विश्वास दिला सकें तथा उसे आपकी बात पर विश्वास भी हो जाय तो आप उससे विवाह का प्रस्ताव भी कर सकते हैं । "मेरा विचार है कि वह यदि कुछ दूरदर्शी होगी तो निश्चित रूप से आपके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करेगी.......।"

"कठिनाई तो यही है कि वह मुझ पर विश्वास करेगी भी तो क्यों ?"

"क्यों ?" मैंने प्रश्न किया। "आप एक बार उसके समक्ष अपने प्रेम प्रस्ताव को रखकर देखिए भी तो।" मैंने उसे सांत्वना देते हुए कहा ।

इसके पश्चात् जो कुछ उन्होंने कहा था, उसे सुनकर मैं काँप उठी थी। उन्होंने सकुचाते हुए कहा था, "शैल, अब मैं.......मैं तुमसे छिपा न पाऊँगा। बोलो.......बोलो क्या तुम.......तुम मुझे.......मैं तुमसे प्रेम.......मैं.......विवाह कर लूँगा.......” यह सब लड़खड़ाई ध्वनि में वे कह गए। मैं सुनकर सिहर उठी। "ऐं, यह मुझसे ही प्रेम करते हैं.......मुझसे। मैं ही वह भाग्य-शालिनी हूँ.......अद्वितीय रूपवती । क्या मुझे यह इतना चाहते हैं ! क्या वास्तव में मुझसे यह विवाह करेंगे ।.......किन्तु नवल ! "मेरी विचारधारा कुछ रुकी। फिर विचार आए "नवल की चिन्ता मुझे नहीं करनी है, उसने मेरे साथ विश्वासघात किया

है, मुझे प्रवंचित किया है। मेरे रहते उसने दूसरी स्त्री से प्रेम किया है....... ओह, मैं यह सहन नहीं कर सकती। "उसने मेरा अपमान किया है।" मेरा अपमान, इस शब्द ने मेरे "अहं" को सचेत कर दिया। मैं झुंझला उठी। मैं.... ..मैं नवल से घृणा करती हूँ। उसने मेरे साथ विश्वासघात किया है, मैं भी उसे प्रवंचित करूँगी, मेरा, मेरे नारीत्व का उसने अपमान किया है। मैं भी उससे अपना प्रतिशोध लूँगी.......मैं सौत सहन नहीं कर सकती...... मैं प्रतिशोध लूँगी.......प्रतिशोध लूँगी........। मैं सब विचार कर रही थी, मौन, निस्तबंध बैठी हुई। मेरी मौन ने प्रेम के साहस को बढ़ा दिया। उसने इसे मेरी मौन स्वीकृति समझी। उसके हृदय में यह भाव आते, ही वह खिल उठा। उसने मुझे अपनी गोद में खींच लिया और मैं भी निर्विरोध उसके हृदय से जा लगी। और फिर.......मदिरा.......उसकी उमड़न और उसी रात्रि में आत्म समर्पण.......। बिना कुछ उत्तर दिए ही मैं उनकी हो गई, वह मेरा हो गया.......मेरी विचारधारा अभी चल ही रही थी कि आया की आवाज से वह टूट गई।

वह पूछ रही थी, "क्या कोई बाबू का पत्र है।"

"नहीं, मेरे भाई का है उन्होंने तुरन्त मुझे दिल्ली बुलाया है। सोचती हूँ कैसे जाऊँ ?" मैं अपने हृदय की बात उससे कह गई। साथ ही मैं यह भी सोचती जा रही थी कि मैं पत्र पढ़ते-पढ़ते अपने को ही भूल गई। पुरानी स्मृतियाँ जो आ गई थीं। यह एक ऐसी स्मृति थी जिसे मैंने आप लोगों से भी छिपा लिया था, किन्तु इस समय मेरी स्मृतियों ने मेरे हृदय में उसे छिपी न रहने दिया। अन्ततः मैंने सभी कुछ तो कह डाला आपके समक्ष।

इसी समय मैंने सुना, आया कुछ सोचने के पश्चात् मेरे प्रश्न का उत्तर दे रही थी "बीबी जी, यदि बहुत जरूरी हो तो आप चली जायं। यदि बच्चों को साथ ले जायं, तब तो ठीक, यदि

उनके ले जाने में आपको कोई कठिनाई हो तो आप चिन्ता न करें। मैं तो हूँ ही। सब ठीक कर लूँगी। आप……" यह कहकर वह रुक गई। मुझे लगा कि उसके इन वाक्यों ने मुझे एक नवीन चेतना शक्ति दे दी हो।

मैंने प्रसन्न भाव से उसे अपने से लगाते हुए कहा, "मेरी आया, तू कितनी अच्छी है। तेरे सहारे ही तो मैं रह पा रही हूँ। यह बच्चे पल रहे हैं, नहीं तो शायद……" मेरी बात पूर्ण होने के प्रथम ही वह बोल दी। "नहीं बीबी जी मैं क्या हूँ। मेरा तो सरकार काम ही यह है। यह तो आपका बड़प्पन है कि मुझे आप इतना मान दे रही हैं तो… अ…।" इतना कहते-कहते उसके नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आए थे।

आया का आश्वासन पा उसी दिन संध्या के समय पाँच वाली ट्रेन से मैंने दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया था। मैं अकेले यात्रा कई बार कर चुकी थी। इस कारण से इसका मुझे कोई भय न था। मैंने दिल्ली तक अपनी यह यात्रा सोते-सोते ही काट दी। दूसरे दिन संध्या समय मैं दिल्ली में थी। भाई जीवन के यहाँ सामान आदि रखने के पश्चात् मैं प्रेम से मिलने को निकल पड़ी।

रात्रि के कोई आठ बज चुके थे। मैं टैक्सी से प्रथम अशोक होटल पहुँची। पता लगाया। ज्ञात हुआ प्रेम और मणि दोनों ही एक घंटा पूर्व यहाँ से गए हैं। मुझे स्मरण था कि प्रेम ने चलते समय मुझ से कहा था कि यदि मैं होटल में न मिलूँ तो मुझे 'एलपस काफी हाउस' में भी देख लेना। मैं अभी होटल से लौटने वाली ही थी कि मुझे मेरी एक पुरानी सहेली प्रतिमा सामने दीख पड़ी। मुझे यह जान कर किंचित् आश्चर्य हुआ कि वह भी प्रेम की ही तलाश में थी। मैंने उस से कार्य पूछा किन्तु कोई ठीक उत्तर न प्राप्त कर सकी। मैंने उसे भी अपने साथ ले

लिया और टैक्सी को एल्पस काफी हाउस चलने की आज्ञा दे दी।

जिस समय हम दोनों एल्पस पहुँचे प्रेम अधीर भाव से किसी की प्रतीक्षा कर रहा था। मैं यह न जान सकी वह किसकी प्रतीक्षा में है। किन्तु मुझे अकस्मात् वहाँ देखकर वह आश्चर्य-चकित अवश्य रह गया। प्रथम वह कुछ अचकचाया, फिर बोला, "ऐं ! आप, यहाँ ? क्या मैं कोई स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ ?"

"स्वप्न, नहीं साक्षात्..." मैंने मणि से हाथ मिलाते हुए उत्तर दिया। किन्तु "स्वप्न" शब्द ने मेरे मस्तिष्क में एक हलचल अवश्य मचा दी थी। क्या "स्वप्न" भी तो सत्य होते हैं ? यदि हाँ, तो... मुझे अपने पुराने स्वप्न स्मरण हो आए। उन स्वप्नों के स्मरण मात्र से ही मैं काँप उठी। "क्या यही स्वप्न मैंने प्रथम देखा था ?....हाँ....मुझे स्मरण आया किसी ने मेरे पति से मुझे ही छीनना चाहा था...और मेरे पति ने....ओह।" यह विचारते ही मेरे मुख से एक हल्की सी चीख निकल गई। मेरी उस चीख से मणि, प्रतिमा और प्रेम तीनों ही चौंक पड़े। तीनों ने प्रश्नवाचक दृष्टि से मुझे देखा। मैं अपनी नादानी पर स्वयं ही लज्जित थी, किन्तु मैंने बात बनाते हुए कहा, "लम्बी यात्रा के कारण थकान मालूम हो रही है। कुछ शरीर में पीड़ा भी है।" मेरी बात सुन कर तीनों ने मुझे विश्राम का परामर्श दिया। किन्तु मैं वहाँ से टली नहीं। अन्त में मेरे कुछ क्षण वहाँ रुकने के पश्चात् प्रतिमा स्वयं ही उठकर चल दी थी। चलते समय मेरे रोकने पर उसने केवल मुझसे यही कहा था, "मेरा कार्य हो गया" और वह चली गई थी। मैंने उस समय प्रेम के मुख की ओर देखा, वह उदास था। ज्ञात नहीं क्यों ? किन्तु मुझे अपनी ओर देखते देखकर वह हँस पड़ा था।

उस समय तो नहीं किंतु आज मैं उस हँसी, उस उदासी, प्रतिमा

के आगमन, सभी का कारण समझ चुकी हूँ। मुझे बाद में ज्ञात हुआ कि प्रतिमा का भी अनुचित सम्बन्ध प्रेम से था और.... और मणि उनकी बहन होते हुए भी उसके लिए नित्य नवीन नवेलियों को फँसाने वाली दूतनी थी....काश ! मुझे उस समय यह रहस्य ज्ञात हो गया होता।

मैं काफी हाउस से उस दिन रात्रि के लगभग ग्यारह बजे तक ही रुक सकी। प्रेम मुझे साथ ही अशोक होटल ले जाना चाहता था किन्तु मेरे भाई के यहाँ रुकने की बात सुनकर वह मौन हो गया था। मैं दूसरे दिन प्रातः ही अशोक होटल में मिलने की बात कहकर लौट आई थी।

दूसरे दिन जब मैं होटल पहुँची तो मणि और वे दोनों ही बैठे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। दोनों ने मेरा खड़े होकर स्वागत किया। मैं गद्गद हो उठी। हम लोगों ने वहीं साथ ही साथ काफी ली। इसके पश्चात् हम लोगों ने दिल्ली दर्शन की योजना निश्चित की। यद्यपि मैं उस समय तक दिल्ली कई बार आ चुकी थी, किन्तु अभी तक दिल्ली का भ्रमण नहीं किया था। इसी कारण से दिल्ली घूमने का चाव मुझे बहुत था।

सर्वप्रथम हम लोग कुतुब देखने चले। अपनी ही कार से हम लोग ग्यारह बजे के लगभग कुतुब पहुँच गए। कुतुब को देखकर मैं हृदय में विचार रही थी कि क्या मैं भी सदैव बिना नत हुए इसी प्रकार खड़ी रह सकती हूँ। जिस प्रकार से यह मीनार खड़ी है निर्द्वन्द्व ! निश्चिन्त ! मैं कुतुब की शोभा खड़ी देखती रही, तत्पश्चात् उन लोगों का अनुसरण करते हुए मैं चुपचाप खिंची हुई कुतुब पर चढ़ने को चल दी। मैं अत्यन्त साहस करके कुतुब के तीन खण्डों को ही पार कर सकी। इसके आगे न मैं जाने का साहस कर सकी और न मणि ही। हम दोनों की विवशता

देखकर प्रेम को भी वहीं रुक जाना पड़ा। लगभग चार बजे हम लोग कुतुब से वापस घर आए। दोपहर का भोजन हम लोगों का वहीं हुआ था।

तीन दिन दिल्ली रुक कर हम लोग कार द्वारा ही पुनः बम्बई के लिए प्रत्यावर्तित हुए। मैंने "हमलोग" शब्द का प्रयोग इस कारण से किया है कि इस बार मैं भी प्रेम आदि के साथ हो ली थी। प्रथम मेरे मन में लोक लाज का भय उत्पन्न हुआ, किन्तु वह इस बार अधिक समय तक टिक न सका। मैंने दृढ़ निश्चय किया कि जब हम दोनों एक हो गए हैं, तब संसार से क्यों छिपायें। क्यों उसकी चिन्ता करें। संसार की बन्दर-घुड़की से भयभीत होकर मैं प्रेम ऐसा पवित्र कार्य नहीं कर सकती। "पवित्र कार्य" शब्द ने मेरे विचारों को झकझोर डाला।...."क्या वास्तव में प्रेम एक पवित्र कार्य है?" मन ने तुरन्त उत्तर दिया, "निश्चित।....संसार में प्रेम से पवित्र अन्य कोई कार्य नहीं है।" इसी समय पुनः मैंने अपने से ही एक प्रश्न और किया, "क्या मेरा और प्रेम का यह प्रेम पवित्र है? अपने पति को त्याग कर किसी दूसरे पुरुष को अपने हृदय में प्रश्रय देना क्या उचित है? इतना ही नहीं अपने पति को प्रवंचित करना, उससे घृणा करना क्या पवित्र कार्य है? किस शास्त्र में इस कार्य को, इस प्रेम को पवित्र कहा गया है?" "शास्त्र....!" विचारधारा कुछ रुकी फिर चली। "शास्त्र....शब्द ने मेरे अहं को उत्तेजित कर दिया था।" मैं इन शास्त्रों पर विश्वास नहीं करती।....मैं ईश्वर नाम की किसी शक्ति पर ही विश्वास नहीं करती।....मैं यह भी विश्वास नहीं करती कि संसार में कहीं पाप और पुण्य नाम की कोई वस्तु भी है।....पाप और पुण्य....।" मेरी विचारधारा रुकी। यह प्रश्न मुझे कुछ विचित्र सा लगा। आज तक मैंने कभी इस ओर

ध्यान भी नहीं दिया था। संस्कारों से आबद्ध सरल मन को कभी इस ओर विचारने की फुरसत ही नहीं मिली थी। और आज मेरा मन सरलता को त्याग कर किंचित वक्र हो गया था, संस्कारों का उसने परित्याग कर दिया था और रूढ़ियों का उसने उल्लंघन कर दिया था, तभी आज अकस्मात् यह प्रश्न मेरे मस्तिष्क को झकझोर गया था। "पाप ! यह जो मैं कर रही हूँ क्या यह पाप है ? प्रेम से प्रेम करना पाप है ? पाप ! आखिर क्यों ?.... नवल से प्रेम करना पुण्य है और प्रेम से प्रेम करना पाप ! यह क्यों ? दोनों ही तो पुरुष हैं। पुरुष से नारी का और नारी से पुरुष का प्रेम कभी भी पाप नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। फिर यह पाप क्यों। नहीं, यह पाप नहीं है। मैंने एक पुरुष से प्रेम किया है फिर पाप क्यों ?".... "नवल से प्रेम पुण्य और.... और प्रेम से प्रेम पाप।" यह सोचकर मैं मन ही मन हँसी। क्या मूढ़ता है....मूढ़ता। हां, हां मूढ़ता ही तो" मेरे अहं ने मेरे मन को ढांढस बँधाया, "मूढ़ता नहीं तो यह क्या है ? एक ही नारी यदि एक पुरुष से प्रेम करती है तो वह पुण्य है और यदि वही नारी दूसरे से प्रेम करने लगती है तो वही पाप हो जाता है।.... एक ही प्रेम, एक सा ही....एक स्थान पर पुण्य और दूसरे पर पाप। नहीं यह कभी सम्भव नहीं, पाप कुछ नहीं है। मैंने कोई पाप नहीं किया है...." मन को कुछ ढाँढस बँधा किन्तु उसके सामने एक प्रश्न और आ खड़ा हुआ, "यदि पाप और पुण्य कुछ नहीं है तो....तो ईश्वर ने इसका विधान क्यों किया ? निश्चित ही संसार में पाप और पुण्य अवश्य हैं....अवश्य हैं...." कार का झटका लगा और विचारधारा रुक गई। इस समय हम लोग प्रत्यावर्तन के पथ पर थे। कार ड्राइव इस समय वे कर रहे थे। मैं और मणि पीछे वाली सीट पर बैठी थीं। मणि सीट पर बैठे ही बैठे सो गई थी। और मैं... मैं अपने ही विचारों में तल्लीन,

आत्मविस्मृत थी सोई सी ही। प्रेम भी मौन था हम दोनों को सोता देखकर।

कार ने फिर स्पीड पकड़ ली थी। मेरी विचारधारा फिर सक्रिय हुई। वही पुराना प्रश्न, "क्या मैंने पाप किया है ?" फिर मस्तिष्क में उठा। मेरे अहं को यह स्वीकार नहीं था, "मैंने कोई पाप नहीं किया," उसका उत्तर था। "संसार में पाप और पुण्य कुछ भी नहीं है। मनुष्य का मस्तिष्क ही इसमें विभेद उत्पन्न करता है। वास्तव में सत्य यह है कि संसार में पाप और पुण्य नाम की कोई चीज है ही नहीं।" शंका उठी, "फिर ईश्वर ने इसका निर्माण क्यों किया।" ईश्वर ने। उत्तर आया, "कौन कहता है कि ईश्वर ने इसका निर्माण किया ?····प्रथम तो सत्य यह है कि ईश्वर का ही निर्माण नहीं हुआ, वही अस्तित्वहीन है, व्यर्थ है, विडम्बना है, मन बहलाने का एक साधन है····और मान भी लो कि ईश्वर है और उसने ही पाप और पुण्य का निर्माण किया है, तो क्या यह निश्चित है कि कितनी वस्तुयें पुण्य हैं और कितनी पाप····।" मन ने बड़े साहस के साथ उत्तर दिया, "निश्चित तो है·······अहं की जिज्ञासा का उदाहरण दो····" मन ने बड़े गर्व से उत्तर दिया "दया धर्म है, अहिंसा धर्म है, सत्य बोलना धर्म है, प्रेम धर्म है····।"

"रुको।" मन की अधूरी बात पर ही अहं बोल उठा, "प्रेम धर्म है फिर मैंने भी तो प्रेम ही किया है वह पाप कैसे हो गया। प्रेम यदि धर्म है, पुण्य है तो प्रत्येक स्थान पर उसे धर्म रहना चाहिए···· एक स्थान पर वह पुण्य हो और दूसरे स्थान पर पाप, क्या यह सम्भव है। क्या यह उचित है····"

उत्तर मिला "प्रेम की भी सीमायें हैं, उन सीमाओं का अतिक्रमण करना ही पाप है···"

पुनः प्रश्न हुआ, "किन्तु उन सीमाओं का निर्धारण किया किसने ?''''क्या ईश्वर ने ?"

मन मौन रहा। अहं को बल मिला। वह कहता ही गया, "यदि ईश्वर ने सीमाओं का निर्धारण किया है तो किस समय ? ''''मान लो मैं आज अविवाहित होती और प्रेम से प्रेम करती जैसे मैंने नवल से किया था तो वह पाप होता या पुण्य ?"

उत्तर मिला "पाप।"

"पाप।" अहं ने अट्टहास किया, "और विवाह के पश्चात् उसी व्यक्ति से प्रेम करना पुण्य है''''''''क्योंकि दोनों का ईश्वर ने विवाह करा दिया है, उसने ही आकर प्रथम के सारे पापों को समेट कर पुण्य में परिवर्तित जो कर दिया है।"

मन के संस्कारों को इस उत्तर से ठेस पहुँची। वे तिलमिला उठे। नवीन प्रश्न मस्तिष्क में आ न सका। पुनः वही प्रश्न, "तो न कोई ईश्वर है, न पाप, न पुण्य ?"

"तुम स्वयं सोचो, अपनी तर्क बुद्धि से सोचो", बुद्धि ने उत्तर दिया, "यदि पाप और पुण्य का निर्धारण होता तो एक स्थान पर एक ही वस्तु पुण्य और दूसरे स्थान पर वही पाप न होती।''' सोचो युद्ध में हिंसा पुण्य है, अहिंसा पाप, शत्रु को प्रश्रय देना, उस पर दया न करना राजनीति बतलाती है और शास्त्र दया करना पुण्य बतलाते हैं, तो किसकी बात मान्य है ? और प्रेम पुण्य है फिर ''''फिर उसमें व्यक्ति का विश्लेषण क्यों ? क्या यह ईश्वर करता है ?"

"नहीं समाज करता है और समाज का निर्माण ईश्वर ने किया है।"

"अब समाज पर आ गए ? ईश्वर अपरोक्ष हो गया। अच्छा, यह भी ठीक। किन्तु समाज में कौन लोग हैं ? मनुष्य''''।"

"हाँ, मनुष्य।"

"फिर सभी मनुष्य हैं। सभी अपने-अपने मस्तिष्क से पाप पुण्य की सीमा रेखा खींच लेते हैं। जो जिसे भला लगता है वह उसके लिए पुण्य, जो जिसे लाभ करता है वह उसके लिए पुण्य और जो हानि करता है वही उसके लिए पाप...."

मन हंस पड़ा। "खूब परिभाषा की पाप और पुण्य की ! मैं नहीं मानता........।"

बुद्धि ने उत्तर दिया "न मानो, संस्कारों से आबद्ध, रूढ़ियों से ग्रसित तुम क्या समझ सकोगे इन बातों को इसीलिए कहा जाता है, आज युग हृदय का नहीं मस्तिष्क का है....तुम्हारा नहीं मेरा है....।"

मन लाचार झुँझला उठा। उसकी झुँझलाहट और बढ़ाने के लिये बुद्धि ने पुनः एक प्रश्न किया, "माना ईश्वर ने ही समाज की स्थापना की तो ईश्वर बड़ा अन्यायी है !"

"क्यों ?"

उसने केवल मानवों के समाज की तो स्थापना की, किन्तु अन्य पशुओं और पक्षियों के समाज की स्थापना उसने क्यों नहीं की ?....एक बात और, क्या मनुष्य समाज ही ईश्वर पर विश्वास करता है, यदि हाँ, तो अन्य वर्गों के लिए ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं और यदि है तो क्या सभी जीवित प्राणी ईश्वर की कल्पना मनुष्य की भांति ही मनुष्य शरीर में ही करते हैं।.... यदि हाँ, तो यह मिथ्या है, असत्य है। ईश्वर की यह कल्पना उनके लिए सर्वथा असत्य है, झूठ है।....वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे।....यह निश्चित सत्य है, कि यदि वे ईश्वर की कल्पना करेंगे....तो अपने ढंग से, अपने रूप से....घोड़ा, घोड़े के रूप में अपने ईश्वर की कल्पना करता होगा, हाथी, हाथी के रूप में,

पक्षी, पक्षी के रूप में, सर्प, सर्प के रूप में·········निष्कर्ष यह कि ईश्वर एक नहीं अनेक है·····।"

मन, बुद्धि की यह धृष्टता सुनता रहा। अन्त में बोला, "मस्तिष्क प्रधान प्राणी ही ईश्वर को समझ सकते हैं, सभी नहीं···।"

बुद्धि ने हँसते हुए उत्तर दिया, "अन्ततः तुमने भी मेरा आश्रय लिया। तुमने भी स्वीकार कर लिया कि यह सब मस्तिष्क के ही कार्य हैं और यदि मस्तिष्क नष्ट कर दिया जाय, तो न कहीं पाप रहेगा और न पुण्य·····अतः पाप और पुण्य कुछ भी नहीं है····मैं पापी नहीं हूँ···· मैंने कोई पाप नहीं किया·····"

मेरे मन ने भी मेरे मस्तिष्क का यह उत्तर स्वीकार कर लिया। अपने इस अन्तर्द्वन्द्व में अन्ततः मेरी विजय हुई, मैं प्रसन्न हो उठी। इसी समय प्रेम ने पुकार कर कहा "क्या तुम लोग सोती ही रहोगी, उठो, देखो आगरा आ गया है।"

उसकी बात सुनते ही मणि आँख मलते हुए उठ बैठी। मैं भी सचेत हो गई। इसके पश्चात् तीनों की राय हुई कि आज आगरा रुका जाय।

जब हम लोग आगरा पहुँचे उस समय संध्या के चार बज चुके थे। आज पूर्णिमा की रात्रि होगी, यह हम लोगों को ज्ञात था। अतः रात्रि में ताज देखने का निश्चय हुआ। सर्वप्रथम प्रेम ने जाकर एक होटल में रुकने का प्रबन्ध किया, तत्पश्चात् भ्रमण की योजना पर विचार हुआ। मेरी इच्छा केवल ताज देखने की थी। मणि ने दयालबाग जाने की भी इच्छा प्रकट की। मैंने भी अपनी स्वीकृति दे दी। दयालबाग जाने के पूर्व हम लोगों की इच्छा आगरा का किला देखने की भी थी, किन्तु वह बन्द हो चुका था।

दयालबाग हम लोग सवा पाँच के लगभग पहुँच गए। अधबनी इमारत, किन्तु सुन्दरता में अपूर्व। उसे देखकर मेरे मन में हुआ कि इसे पूर्ण होते भी देख लूँ। किन्तु""। मैं विचार कर रही थी, कि जब अर्ध निर्मित होने पर यह इतनी सुन्दर है, तो पूर्ण हो जाने पर इसकी सुन्दरता कैसी लगेगी। काश, तब तक जीवित रहती जब तक यह पूर्ण न हो जाती""" यह विचार कर मैं हँस पड़ी।

दयालबाग के उस मन्दिर को देखने में हम लोगों ने आधे घंटे का समय लगाया। छः बजे हम लोग उसे देखने के पश्चात् पुनः आगरा आ गए थे।

लगभग साढ़े सात बजे हम लोग काफी आदि पीकर ताज देखने पहुँच गये। ज्योत्स्ना अभी फूट रही थी। ज्यों-ज्यों ज्योत्स्ना अपना रम्य रूप पसारती जा रही थी, जनरव बढ़ता जा रहा था और ताज! उसकी शोभा के क्या कहने! मैं कुछ देर तो ठगी सी, चकित सी उस ताज की अपूर्वता को निहारती रही, फिर न जाने क्या विचार कर मैं आगे बढ़ी। पीछे-पीछे मणि और प्रेम थे। प्रेम ने कहा रुको भी, देखो यहाँ से ताज को देखो। कितना लुभावना लगता है....

मैं रुक गई। वहीं खड़ी हो गई। वे भी मेरे ही पीछे आकर खड़े हो गये थे। उनकी ठोढ़ी से मेरे केशों का स्पर्श हो रहा था। उनकी श्वास के स्वर मैं धड़कते हृदय से सुन रही थी, सुनती जा रही थी। बड़ा आनन्द आ रहा था। मणि आगे बढ़ गई थी। अब उनकी उँगलियाँ मेरे केशों से खेलने लगी थीं। मैं भाव विभोर हो उठी थी। मैं उसी दशा में खड़ी ताज को अपने नेत्रों द्वारा अपने हृदय में उतार लेना चाहती थी। मैं उस छवि को हृदय में उतारते-उतारते सोचने लगी, "काश, मेरी स्मृति में भी कोई ऐसा ही स्मारक बनवा देता, जिसे देखने इतने लोग विश्व

के कोने-कोने से आते हैं।''''किन्तु'''''' मैं स्वयं ही अपनी इस कल्पना पर हँस पड़ी। मुझे प्रसन्न देखकर प्रेम ने प्रसन्न मुद्रा में मुझसे प्रश्न किया, "एकदम पुलकित हो उठीं''''कहो कैसा लगा?"

"अत्यन्त सुन्दर", मैंने तपाक से उत्तर दिया, किन्तु मैं इसकी सुन्दरता देखकर नहीं हँसी। मेरे हँसने का कारण दूसरा ही था।

"क्या कारण था" प्रेम ने पूछा।

"पूछकर क्या करोगे। एक असम्भव कल्पना चित्त में उठी थी।"

"कल्पना। असम्भव। क्या कह रही हो? कल्पना असम्भव नहीं होती, इच्छा अवश्य असम्भव हो सकती है।"

"अब चाहे उसे कल्पना कहो, चाहे इच्छा कहो, चाहे अभिलाषा कहो, चाहे और कोई नाम दे लो, किन्तु है वह असम्भव ही''''''''।"

"कहो भी तो''''उन्होंने आग्रह से पूछा।"

"मैं अभी मरने को तैयार हूँ किन्तु यदि...." यह कहकर मैं रुक गई।

"क्या कहती हो शैल। मरें तुम्हारे शत्रु, तुम क्यों मरोगी?" उसने खिन्न भाव से कहा।

"किन्तु मैं अपने शत्रुओं को मार कर ऐसी सौभाग्यशाली नहीं बनना चाहती''''" मैं हँस पड़ी।

"भाई, स्पष्ट कहो। पहेलियाँ न बुझाओ।"

"स्पष्ट ही सुनिएगा। तो सुनिए''''किन्तु देखिए मुझ पर हँसिएगा नहीं, प्रथम यह वचन दे दीजिए।

अच्छा बाबा, नहीं हसूँगा।

मैंने शनैः शनैः अपनी कल्पना का एक चित्र उसके सामने खींचना प्रारम्भ किया। शनैः शनैः इस कारण से कि शीघ्रता में उसकी उत्सुकता बीच में ही शान्त न हो जाय। मैंने कहा, "मैं सोच रही थी कि मुमताज कितनी भाग्यशालिनी थी""उन्होंने बीच में ही खीझकर कहा, "वह तो थी ही, उसके लिए एक बादशाह की बेगम होना ही क्या कम था, उसके सौभाग्य से तुम क्यों ईर्ष्या करने लगीं""।"

उनकी बात मैंने भी काट दी। मुझे कुछ आवेश आ गया। मैंने कहा "आप मेरी सुनिए भी या अपनी ही कहे जाइएगा....।"

"अच्छा अच्छा कहो, मैं अब कुछ नहीं बोलूँगा" उन्होंने क्षमा माँगते से स्वर में कहा।

"हाँ तो मैं कह रही थी', उनकी मुख मुद्रा देखकर मैंने अपनी बात आगे बढ़ाई""मैं सोच रही थी कि यदि कोई मेरी स्मृति में ऐसा स्मारक बनाने का आश्वासन दे तो मैं अभी तत्काल यहीं मरने को तैयार हूँ""काश, मेरा भी कोई प्रेमी मेरी स्मृति में ऐसा ही स्मारक बना देता""।"

मेरी बात अभी अधूरी ही थी कि वे हँसते हुए बोल उठे"" तब तो तुम्हें अवश्य किसी शहंशाह की खोज करनी पड़ेगी""और तुमको तो ज्ञात है ही कि भारत में जनतन्त्र होने के कारण अब शहंशाह रहे नहीं""हाँ, एक बात अवश्य है""उन्होंने कुछ रुकते हुए कहा। मैंने भी हँसते हुए ही प्रश्न किया, "वह भी कह डालो।"

"बात यह है" उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ अपनी बात आगे बढ़ाई, "भारत से बाहर अब भी शहंशाह है""मेरा विचार है कि यदि ईरान चली जाओ""तो सुन्दर रहेगा। तुम्हें देखकर दोनों ही स्थान के बादशाह तुम्हारे गुलाम हो जावेंगे""और तब

तुम यह शर्त कह सुनाना....'' यह कहकर वे खुलकर हँस पड़े। फिर बोले....''उनसे निकाह करने से पहले यह स्मरण रखना कि वे कहीं पलट न जाय....अच्छा तो यह होगा तुम अपने जीवन काल में ही एक मकबरा बनवा लेना, उसमें लेटकर देख लेना.... तब कहीं इन प्राणों को त्यागना वे कुछ और कहने जा रहे थे कि मैं बीच में ही बोल उठी, ''बस, बस रहने दीजिए....इसीलिए मैं आपसे कोई बात नहीं कहती....आप तो बस मुझे खींचने लगते हैं....'' इसके पश्चात् मैंने कुछ रूठने का अभिनय किया। वे कुछ सतर्क हो गए। अनुनय से बोले ''क्या रूठ गई मेरी....वे मेरी ठोढी को अपने दाएं हाथ से उठाकर यह बात कह रहे थे। किन्तु मैंने बीच ही में उनके हाथ को झटक दिया। बोली, ''रहने भी दीजिए बात बनाने को। आप लोगों के पास बात बनाने के अतिरिक्त और कुछ भी होता है। बस, बात बात में रानी मेरी प्राणप्रिये, मेरी दिलवर और न जाने क्या-क्या....मगर काम करने के नाम....'' इतना कहते-कहते मेरा कंठ भर आया था। नेत्रों में अश्रु छलछला आये थे। मेरी यह मुद्रा देखकर वे द्रवित हो उठे। दोनों हाथों से मेरे दोनों कंधों को थामकर मुझे अपने सामने करते हुए मेरी ओर निहारते हुए उन्होंने कहा, ''क्यों ? मजाक में ही रो दी....'' इतना कहकर उन्होंने अपने दायें हाथ से मेरे सर को अपनी ओर उठाते हुए कहा, ''मेरी ओर देखो....एक बार आँख उठाओ।'' उनके विशेष आग्रह पर मैंने नेत्र उठाये। वे मेरी ओर ही कुछ व्यग्रता एवं कुछ अपराधी भाव से देख रहे थे। मेरी आँखें उठाते ही उनकी आखों में जा उलझी, आँखें चार हुई और वे खिलखिलाकर हँस पड़े। और....''

इसी समय किसी के पैरों की ध्वनि सुन पड़ी और हम दोनों ने ही घूमकर देखा मणि हम लोगों की ओर ही बढ़ी आ रही है। हम दोनों ताज के दायीं ओर के मैदान में खड़े थे। जहाँ न

जनरव था न कोलाहल। प्रेम ने ही मुझे उस स्थान पर रोक लिया था। मणि हम लोगों को रुका देखकर आगे चली गई थी। हम लोगों को विलम्ब देखकर वह लौटकर आ रही थी। उसने शिकायत भरे स्वर में कहा, "भय्या, अभी रात पड़ी है, बातें फिर ही लेंगी। चलिए, अब ताज तो देख लिया जाय..." "इसके पश्चात् उसने मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, "भैय्या ऐसे ही हैं, न कहीं देश देखें न परदेश....आप चलिए भी।

उसकी इस बात से मैं लजा गई थी। कुछ क्षण लजाई खड़ी रहने के पश्चात् मुझे चेत आया। मणि मुझे खींचते हुए ताज की ओर लिए जा रही थी।

रात्रि बारह बजे हम लोग घूम फिर कर होटल वापस आए। दिन भर की थकी होने के कारण मुझे नींद आ रही थी। प्रेम ने कहा, "थोड़ा सा पी लेने से थकान उतर जावेगी, यह कहकर उसने तीन गिलासों में मदिरा तैयार कर ली। मैंने उस रात्रि मदिरा लेना बिलकुल अस्वीकार कर दिया। दोनों ने ही आग्रह किया....किन्तु मैंने लिया नहीं। उन दोनों ने ही मेरे सामने ही पी।

मैं थकी थी, अतः शीघ्र ही मुझे नींद आ गई। रात्रि में किसी के हाथों का सुखद स्पर्श पाकर मेरी नींद खुली। कोई पलंग पर मेरे सिर के समीप बैठा शनैः शनैः मेरे केशों को सहला रहा था। मुझे यह स्पर्श बड़ा सुखद लगा। मैं समझ गई कि प्रेम ही मेरे सिरहाने बैठा हुआ है। मैं कुछ क्षण तो आँख मूँदे अलसाई हुई उसके सुखद स्पर्श का आनन्द लेते हुए पड़ी रही, किन्तु फिर न जाने क्या विचार कर मैंने उनका हाथ अपने सर पर से हटा दिया। एक क्षण के पश्चात् पुनः उनका हाथ अपने स्थान पर आगया। मैंने इस बार पुनः उनका हाथ हटाते हुए कहा, "हटिए भी, सोने दीजिए" किन्तु इस बार उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया

"सो कर क्या करोगी, बोलो भी।" मुझे यह अच्छा नहीं लगा। मैंने मन में निश्चय कर लिया था कि मैं एक बार अनजाने में इन्हें आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ किन्तु अब''''अब ऐसा कदापि नहीं होने दूँगी।''''मैं सोच रही थी, "हम दोनों विवाह करेंगे'''' तब''''इनके समक्ष आत्म-समर्पण करने में जो आनन्द होगा उसे कम क्यों करूँ?''''एक बात और''''अभी से''''आत्म समर्पण कर देना मेरे सम्पूर्ण नारीत्व को कुण्ठित कर देना'''पुरुष की सबसे महान दुर्बलता है, नारी''''वह नारी जो उसके लिए एक रहस्य हो''''आकर्षण हो। यह नारी का आकर्षण, उसका रहस्य उसके समीप तभी तक अक्षुण रह सकता है जब तक वह अपने को समूची बचाए रहे, आत्म-समर्पण न करे, अपने को अनावृत न करे''''और यदि वह ऐसा करती है, पुरुष उसे एक बार भी समूची पा लेता है, तो उसका आकर्षण जाता रहता है''''तब वह नारी को हीन समझने लगता है''''किन्तु पत्नी हो जाने के पश्चात् नारी और पुरुष के मध्य केवल वासना का आकर्षण ही नहीं रहता, रूप का रहस्य ही नहीं रहता वरन् दोनों के मध्य तक पवित्र भाव आ जाता है और वह भाव ही उन दोनों के सम्बन्ध को नित्य-प्रति प्रगाढ़ करता जाता है, अतः नारी के लिए, यदि वह पुरुष को अपना रखना चाहती है तो उसका विवाह बन्धन में बंधना अनिवार्य है''' " यही विचार कर मैंने यह निश्चय कर लिया था। कि अब विवाह बन्धन में बंधने के पश्चात् प्रेम की हो जाऊँगी, अन्यथा अपने को खोऊँगी नहीं, अपने नारीत्व को नष्ट न होने दूँगी, अनावृत्त न होने दूँगी।''''" यही विचार कर मैंने अपने शिर पर से उसका हाथ हटाया था किन्तु प्रेम माना नहीं। उसकी यह धृष्टता देख कर मुझे आवेश आ गया। मैं उठ बैठी किन्तु उनकी मुख छवि देखते ही मेरा आवेश जाता रहा, किन्तु तो भी मैंने प्रयास करके कहा, "भगवान्

के लिए, मुझे तंग न कीजिए····" इतना कहकर मैं स्वयं सकुचा गई। इन शब्दों का प्रभाव उन पर भी पड़ा। वे कुछ सकुचाए किन्तु फिर उन्होंने अपनी दोनों बलिष्ठ भुजाओं में मुझे संभाल लिया। मैंने कुछ समय उनसे मुक्त होने का असफल प्रयास किया और अन्त में उनके वक्ष पर ही अपना सिर टेक दिया। सिर पर उनका स्नेह स्पर्श पाकर मैं सिसुक उठी। अपने मनोभावों पर नियन्त्रण न रख सकी। मेरे मुख से अनायास ही निकल गया "आखिर आप मुझसे चाहते क्या हैं····बोलिए भी····।"

"तुम्हें····केवल तुम्हें····" इतना कहकर उन्होंने मुझे अपने भुजपाश में और जकड़ लिया।

"मैं तो तुम्हारे सामने, अधूरी नहीं सम्पूर्ण····और मैं····मैं तुम्हें अपने को देने में कभी संकोच नहीं करूँगी····कभी नहीं···· मैं तो तुम्हारी हूँ····पूर्ण रूप से तुम्हारी हूँ····तुम्हारी हो भी चुकी हूँ·· किन्तु अभी इस पूर्णता में कहीं कुछ अपूर्णता है, अपनत्व में दुराव है, अनावृत्तता में भी कुछ आवरण है, अभिन्नता में भी भिन्नता है, मेरे आत्म-समर्पण में भी पूर्ण समर्पण नहीं है। वास्तव में वह केवल समर्पण मात्र होता है, आत्म समर्पण नहीं····तुम जानते ही हो····आत्म-समर्पण आत्मा का व्यवसाय है, हृदय की बात है और वह तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक हम दोनों उस भिन्नता को दूर न करदें, उस आवरण को फाड़ न डालें···· और उसका उपाय तुम जानते ही हो····" इतना कहते-कहते मैं फफक कर रो पड़ी।

वे कुछ व्याकुल हुए। फिर संयत होकर उन्होंने अपने दायें हाथ से मेरे मुख को ऊपर उठाया। मैं भी अभी सिसुक रही थी, अधर हिल रहे थे, आँखें छलछलाई हुई थीं। उन्होंने बायें हाथ को ऊपर लाकर मेरे अश्रुओं को पोंछ डाला और फिर मेरे

फड़कते हुए अधरों को स्पर्श करते हुए कहा "ऐं"'यह क्या'"। तुम रोती हो'"'क्यों। स्पष्ट कहो।'"'कौन सी शक्ति है जो हम दोनों की अभिन्नता को भिन्न कर सके'"'हम दोनों के बीच आवरण डाल सके'"'नहीं हम दोनों एक हैं'"'अभिन्न हैं'"'तुम मेरी हो'"'मैं'"'" इतना कहकर उन्होंने पुनः मुझे अपने वक्षस्थल का आश्रय दिया।

मैंने कुछ कहने का साहस किया। अधर हिले किन्तु कह न सकी। किन्तु पुनः साहस किया और कह ही गई, "क्या'"'आप को अपना वचन स्मरण है।"

"वचन।'"'क्या कहा था मैंने।

"विवाह का वचन।"

सुनकर वे कुछ चौंके। फिर कुछ सम्हल कर बोले "विवाह। इसकी अब आवश्यकता ही क्या? हम दोनों एक हैं, अभिन्न हैं'"'फिर विवाह की क्या उपयोगिता'"'" फिर कुछ रुक कर बोले, "और विवाह में भी तो बन्धन है। तुम्हें प्रथम तलाक करना होगा'"'फिर विवाह होगा'"'इस विषय पर तुम विचार कर लो'"' मुझे स्वीकार है'"'विवाह स्वीकार है'"'किन्तु तुम मुझ से दूर रहो, भिन्न रहो यह मुझे स्वीकार नहीं'"'" इतना कहकर उन्होंने पुनः मुझे अपनी विशाल भुजाओं में समेट लिया। और उसके पश्चात् मैं पुनः बह गई'"'सब कुछ विचार कर भी'"'।

इसके पश्चात् विवाह की बात यों ही पड़ी रहगई। हम लोग बम्बई पहुँच गए। बम्बई में घर पहुँचकर मुझे एक तार मिला उनका, मेरे पति का, नहीं, नहीं नवल का! उन्होंने दो दिन पश्चात् आने को लिखा था। तार पढ़कर मुझे कुछ भय ज्ञात हुआ, प्रथम उनके आगमन का समाचार पढ़कर मुझे प्रसन्नता होती थी किन्तु इस बार न जाने क्यों भय लगा। कारण स्पष्ट था

था। प्रथम मैं उनसे प्रेम करती थी और अब मैं उनसे घृणा करने लगी थी। प्रथम मैं उनकी पत्नी थी और अब पत्नी होते हुए भी किसी अन्य की हो चुकी थी। मैं विचार रही थी कि क्या यह सम्भव है कि मैं पति के रहते अपना पत्नीत्व त्याग दूँ, अपना निजित्व त्याग दूँ, अपना सर्वस्व त्याग दूँ....नहीं....नहीं नारी यदि वह वास्तव में नारी है तो वह केवल एक की हो सकती है, अनेक की हो सकती है, भगनी हो सकती है किंतु पत्नी वह एक ही की रह सकती है। अधिक के लिए उसके हृदय में स्थान नहीं।....किन्तु.... किन्तु क्या मैं नारी नहीं रही।" मुझे लगा किसी ने मेरे अन्तर से प्रश्न किया हो। प्रश्न आगे बढ़ा "यदि तू नारी होती तो एक की रहती....पत्नी रहती....नहीं तू नारी नहीं है.... तूने पत्नीत्व की मर्यादा का उल्लंघन किया है, तूने अपने पति को प्रवंचित किया है, तू नारी नहीं है....नहीं है....'' किन्तु इतना बड़ा लांछन मेरे अहं को सहन न था। उसने तत्काल उत्तर दिया "कौन कहता है मैं नारी नहीं हूँ....मैं नारी हूँ....प्रथम एक की थी अब दूसरे की हूँ....किन्तु हूँ एक ही की....दो की नहीं। मैं दो की होकर रह भी तो नहीं सकूँगी। मैं अपने को एक से हटाऊँगी, दूसरे को सौंप दूँगी। किन्तु क्या प्रथम मुझे हटने देगा ?....." इस प्रश्न ने मेरे मस्तिष्क को पुनः झकझोर दिया। लगा कोई कह रहा हो "नहीं वह तुम्हें त्यागेगा नहीं। न ही वह तुम्हें त्यागने देगा....." फिर उत्तर आया "मुझे तो त्यागना ही है....निश्चित।" प्रश्न पुनः हुआ "अकेले तुम कैसे त्याग दोगी....उसके पति रहते अपने पत्नीत्व को कैसे छोड़ दोगी....और बच्चे....वे किसके होंगे....." इस विचार ने मेरे मस्तिष्क में आकर मुझे झकझोर दिया। "तलाक ! बच्चे !! प्रेम !!!....एक साथ ही मेरे मस्तिष्क में इन सभी के चित्र उभर आए। और मैं विचार रही थी "तलाक के पश्चात् बच्चे किसके होंगे नवल के या प्रेम के या मेरे या

वर्णसंकर, लावारिस, आवारा···· नहीं नहीं···यह नहीं होगा·····" मैं इस विचार से काँप उठी। मैं सिहर उठी। मैं अब किसी निश्चय पर पहुंचना चाहती थी किन्तु मैं स्वयं भ्रमित थी, पथ-भ्रष्ट थी। अन्ततः मैंने व्याकुल होकर तार वहीं डाल दिया और भ्रम निवारण के लिये मैं संध्या समय प्रेम के समीप जा पहुँची।

प्रेम उस समय अपनी कोठी में अकेला था। मणि कहीं बाहर गई हुई थी। मुझे देखते ही उसने मेरा स्वागत किया। हँसते हुए बोला "खूब आई, तुम्हारी ही याद आ रही थी" मुझे उसकी यह हँसी भली नहीं लगी। मैंने कहा "मुझे तो याद कर ही रहे थे। किन्तु मैं एक बात आज पूछने आई हूँ·····" इतना कह कर मैं कुछ रुकी। वह मेरी ओर उत्सुकता से देख रहा था। मैं बोलती गई "मैं आज तुम से यह पूछने आई हूँ कि तुम मुझसे विवाह करोगे या नहीं। परसों वे आरहे हैं मैं आज ही यह निश्चय कर लेना चाहती हूँ। मैं उन्हें तलाक दूँगी। मैंने यह निश्चय कर लिया है कि मैं एक को होकर रह सकूँगी और दो की नहीं।···· इसके पश्चात् मैंने रोते हुए कहा "तुम जानते हो मैं तुम्हें अपना सब कुछ दे चुकी हूँ, आवरण हटा चुकी हूँ···जाने में या अनजाने में तुम आ ही गए हो····तुम्हारी प्रतिमा नवल की प्रतिमा को चुपके से खिसका कर मेरे मनोमन्दिर में आ बिराजी है···· और मैं अब तुम्हारी होकर रहना चाहती हूँ····। तुम्हें शायद यह मालूम नहीं कि नारी के हृदय में केवल एक ही प्रतिमा रह सकती है एक साथ दो नहीं। नारी के शरीर को कितने ही पुरुष पा सकते हैं, किन्तु उसके हृदय को केवल एक।····अब मैं एक की ही रहना चाहती हूँ····तुम्हारी होकर रहना चाहती हूँ···· मुझे बचाओ····बचाओ····इतना कहकर मैं उसके गले में हाथ डाल कर और अपने सर को उसके वक्षस्थल पर रखकर रो पड़ी।

मेरी बातें सुनकर वह कुछ कांपा, उसकी जिह्वा कुछ लड़खड़ाई फिर उसने संयत स्वर में कहा "विवाह इतना सरल नहीं है शैल, जितना तुम समझती हो। तलाक तुम दोगी। कैसे दोगी ? क्या नवल स्वीकृति देगा" उसकी बात सुनकर मैं तड़प उठी "क्यों नहीं देने देगा, तलाक मैं दूँगी। मुझे उसके साथ नहीं रहना है। नहीं रहना है। मैं तुम्हारी हूँ तुम्हारे साथ रहूँगी....और....उसने ढाढस दिया "तुम मेरी हो, मेरी ही रहोगी....किन्तु विवाह.... तलाक....एक समस्या है।" यह कहकर वह सोच में पड़ गया।

मैं समझ गई कि वे मुझे बहलाना चाहते हैं, विवाह के प्रस्ताव को टालना चाहते हैं। मुझे क्रोध आया किन्तु मैं उसे पी गई। मैंने सोचा मैं नारी हूँ, एक ऐसी नारी हूँ जो अपने को समूची किसी दूसरे को दे चुकी है। नारी को पा जाने के पश्चात् कामी पुरुष की यही दशा होती है जो इस प्रेम की है। मुझे अपने ऊपर क्रोध आया "मैंने अपने को इसे दिया क्यों ? बिना विचार किए मैंने यह क्या किया मैंने क्या यह अच्छा किया।" यह सोच-कर मैं रो पड़ी। उसने मुझे ढाँढस देने के लिए कहा "एक बात है हम तुम दोनों ऐसे ही मिलते रहें तो क्या बुरा ? नवल जान भी नहीं पावेगा। ....तुम"

मुझे लगा किसी ने मेरे कानों में तप्त पारा डाल दिया हो। "ओह। यह प्रवंचना। नहीं....नहीं मैं नहीं कर सकूँगी....कभी नहीं, कदापि नहीं।" विचार आया यही कह दूँ किन्तु मैं कुछ बोली नहीं। उसने मेरी मौन स्वीकृति समझी। पुनः बोला "यही ठीक रहेगा शैल। विवाह में अनेक झंझट है...."

अब मैं सहन न कर सकी। बोली "यह कहते आपको लज्जा तो आती नहीं। मैं नारी हूँ, मैं संसार भर को प्रवंचित कर सकती हूँ किन्तु अपने आपको....ठीक कहते हैं आप। अपराध मेरा है,

मैंने नारी होकर अपने को खो जाने दिया, अपने नारीत्व का त्याग किया, पत्नीत्व का त्याग किया और अपने पति को प्रवंचित किया....और अब आप....मैं अपने अश्रुओं को रोक न सकी। मैं यह भी न समझ सकी कि वे किस समय तुम से आप हो गए। किस समय अपने से बेगाने हो गए।

मेरा यह रूप देखकर वे आर्द्र हो उठे। मुझे धीरज बँधाते हुए बोले "मुझे ग़लत न समझो शैल, मैंने तुमसे विवाह करना अस्वीकार तो किया नहीं। किन्तु तुमने कभी विचार किया है कि तलाक के पश्चात् क्या होगा ? तुम्हारे बच्चों की क्या दशा होगी ? और नवल....खैर उसकी मुझे चिन्ता नहीं। किन्तु तुम्हारे बच्चे...."

उसकी इस बात ने मेरे मर्म को छू लिया। मैंने सोचा "ठीक ही तो कहता है यह। मेरे बच्चों का क्या होगा ? मैंने इस ओर पग रखने के पूर्व इस विषय पर विचार क्यों नहीं किया ? मेरे बच्चे नवल के बच्चे, क्या प्रेम के हो सकेंगे ? संसार की दृष्टि में नहीं....तब उनका क्या होगा ?" मैं विह्वल हो उठी। मैंने कहा "इसी समस्या का समाधान तो मैं आपसे पूछने आई थी ? बोलिए. आप ही बोलिए ?"

"मैंने तो राजमार्ग बता दिया। अब तुम विचार कर लो।" उसने समझाते हुए कहा। इसके पश्चात् उसने मेरा हाथ पकड़-कर कहा "छोड़ो भी इन बातों को। आज घूमने नहीं चलोगी।" मैंने झटक कर अपना हाथ छुड़ा लिया। आवेश में बोली "अब तो आपकी पत्नी बनकर ही घूमने चलूँगी, अन्यथा नहीं....मैं इस समस्या पर विचार कर लूँ। फिर मिलूँगी।" यह कहकर मैं चल दी। कुछ दूर चलने के पश्चात् मैं पुनः कुछ ठिठकी, भूमि और नेत्रों को बिना उठाए ही मैंने प्रश्न किया "मान लो वे मुझे तलाक

दे दें। बच्चों की समस्या को भी मैं सुलझा लूँ""तब क्या आप मुझसे विवाह करेंगे।

प्रश्न पूछने के पश्चात् मैंने नेत्र उठाकर प्रेम की ओर देखा। उनके अधर हिले किन्तु कुछ कह न सके। फिर रुककर उन्होंने कहा "शायद। एक माह और हम दोनों को ही इस पर विचार लेना चाहिए ""।" वे कुछ और कहना चाहते थे किन्तु मैं यह कहती हुई कि "मैं एक माह के पश्चात् ही सभी समस्याओं का समा- धान करके पुनः आपके पास आऊँगी। तब तक आप भी विचार लें।" वहाँ से तेजी से निकल आई।

दो महीने के प्रवास के पश्चात् मेरे पति आए। मैंने उनका स्वागत किया। किन्तु मुझे स्वयं लगा कि न उस स्वागत में वे भाव थे और न वह कातरता ही। वास्तव में मैंने उनका दिखा-वटी स्वागत ही किया था। उन्हें देख प्रथम मैं गद्‌गद् हुई न जाने क्यों अन्दर ही अन्दर कुम्हला गई। किन्तु वे मुझे देखकर अपने को रोक न सके। बोले "शैल। कहो कैसी रहीं? मेरे लिए यह दो माह तो दो वर्ष से भी अधिक हो गये""किन्तु तुम्हारी स्मृतियों का आश्रय लेकर मैंने इन्हें पार किया""आज मैं कितना प्रसन्न हूँ। कह नहीं सकता और कहना भी तो नहीं चाहता। इतना कहकर उन्होंने मेरे गोद के बच्चे को मुझसे ले लिया। उसे थपथपा कर मुझसे बोले "सभी कुछ दुबले मालूम होते हैं। बात क्या है शैल।"

मैं बोली "अंदर चलिये। आप ठीक रहे।" इसके आगे मैं कुछ समझ न पाई कि इनसे क्या कहूँ।

लगभग एक घंटे तक मैं उनकी अनमने मन से बातें सुनती रही। उन्होंने सभी कुछ पूँछ डाला और मैंने अन्यमनस्क भाव से सभी का उत्तर भी दिया। मेरा वह भाव उन्हें कुछ विचित्र-सा

लगा। हँसते हुए बोले "ओह मैं समझा तुम क्यों फूली बैठी हो। भई, अप्रसन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारे लिए भी अनेक उपहार लाया हूँ। मैं तो बातों में भूल ही गया था।" इतना कहकर स्वयं सूट केस खोलकर वे एक-एक चीज मुझे दिखलाने लगे। "देखो, यह बंगलौर की साड़ी''''तुम पर खूब फबेगी।''''पहनकर अप्सरा-सी लगोगी। और यह देखो''''यह बनारसी साड़ी है''''तुम्हें पसन्द बहुत थी, इसी से लेता आया हूँ और यह तो मैसूर के चंदन का सामान''''" यह कहकर एक-एक कर वे देते जाते थे और मैं रखती जाती थी। वे वास्तव में ऐसी-ऐसी चीजें लाये थे जिन्हें मैं प्रथम पाकर झूम उठती थी किन्तु उस समय उन सबको पाकर भी मौन रही, अन्यमनस्क भाव से देखती रही। उन्हें यह विचित्र लगा। बोले "शैल! क्या तुम कुछ अस्वस्थ हो।" इतना कहकर उन्होंने अपनी उँगली से मेरी ठोढ़ी को उठाया। मेरे अश्रु छलछला आये। अश्रु देखकर वे भी व्याकुल हो उठे। मुझे लिए हुए वे पलंग पर चले आए। मुझे अत्यन्त स्नेह से पलंग पर लिटाकर चादरा ओढ़ाया और फिर मेरे सिर के समीप आ बैठे। मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोले "अस्वस्थ थीं, बतलाया क्यों नहीं। क्या मैं इतने ही दिनों में कोई पराया हो गया।"

"पराया हो गया" उनके इस वाक्य ने मेरे मस्तिष्क को झकझोर दिया। मेरी विचारधारा चल पड़ी। "हाँ, पराये ही तो हो गए हैं। अब मैं इनकी कहाँ हूँ, इनकी होती तो इनकी रहती न। मैं तो प्रेम की हो चुकी हूँ, इनकी अब रही भी कहाँ।''''क्या मैं इनके लिए सदैव पराई ही रहूँगी।''''या इनकी होकर भी इनकी नहीं रहूँगी।''''नहीं ऐसा नहीं करूँगी। मैं पूर्णरूप से इनकी नहीं हो पाऊँगी, अब मैं इनके लिये पराई होकर ही तो रह पाऊँगी।" यह विचारते ही मैंने सोचा कि मैं इनसे सभी बातें

स्पष्ट कह दूँ किन्तु साहस संचय न कर सकी। मैंने उनसे केवल यही कहा "सिर में पीड़ा है....." मेरी बात पूर्ण हुई भी न थी कि वे सूटकेस से एक गोली निकाल लाये। बोले--"लो इसे खा लो। थोड़ा विश्राम कर लो। सिर दर्द ठीक हो जावेगा।" इतना कहकर उन्होंने स्वयं ही मुझे वह गोली खिला दी। मैंने चुपचाप उसे ले लिया। इसके पश्चात् वे मुझे विश्राम करने का आदेश देकर चले गये।

मैं आदेशानुसार चादर ओढ़ विश्राम कर रही थी। किन्तु वास्तव में मेरा शरीर विश्राम कर रहा था, मेरा मस्तिष्क उनके आदेश का उल्लंघन कर निश्चिन्त भ्रमण कर रहा था। पड़े-पड़े मैं विचार रही थी "काश, मैं इन्हीं की रहती........दूसरे की न होती। किन्तु अब। अब तो दूसरे की हो चुकी हूँ। क्या इनसे छिपा लूँ। पीछे की बातें विसार कर पुनः उनकी हो जाऊँ? किन्तु इनसे असत्य बोलना क्या उचित होगा। और वह प्रेम। वह ही तो विराज रहा है मेरे हृदय में, इनकी मूर्ति की पुनः स्थापना कर सकूँगी अपने हृदय में।" विचरधारा कुछ रुकी। उसका उत्तर मिला "शायद नहीं। मैं अब आगे आ गई हूँ। अब पीछे लौटना ठीक नहीं। मैं इन्हें सब कुछ बतला दूँगी।" किसी ने मुझे फिर रोका "नहीं, उनसे अभी कुछ न कहना। प्रथम इस पर विचार लो। क्या प्रेम तुम से विवाह करलेगा।"... शायद। निश्चित नहीं फिर यदि तुमने इनसे बात कह दी और उसने भी मुझसे विवाह को ना कर दिया तब ? तब, तुम क्या करोगी ?" मेरे मन ने प्रश्न किया। यह विचार आते ही मैंने निश्चय कर लिया कि मैं उनसे कुछ नहीं बतलाऊँगी। इसके पश्चात् मैं किस समय निद्रामग्न हो गई मुझे स्मरण नहीं।

दूसरे दिन प्रातः उन्होंने ही बड़े दुलार से मुझे उठाया। मेरे

नेत्र खोलते ही उन्होंने बड़े स्नेह से पूछा "कहो सिर दर्द कैसा है। शरीर भारी तो नहीं है।"

उनका यह प्रश्न सुनकर मैं यह कहते हुए कि अब स्वस्थ हूँ, उठ बैठी। मैंने अनुभव किया कि मेरा शरीर अवश्य उनका है किन्तु मस्तिष्क भारी है। यद्यपि मैंने अपने को प्रेम की ओर से हटाने का दृढ़ निश्चय कर लिया, मैंने यह भी विचार लिया कि अब मुझे किसी से भी अपने उस अनैतिक, गर्हित सम्बन्ध के विषय में नहीं कहना है। मेरा पतन जितना होना था हो चुका अब मैं अपने को संभाल कर ही रहूँगी। यही विचार कर मैंने पति के प्रति पुनः अपना प्रेम प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया था। काश, यहीं से मुझ में परिवर्तन हो गया होता तो मैं आज कितनी सुखी होती किन्तु विधि को तो कुछ और ही स्वीकार था।

पति के आने के तीसरे दिन मैं अपने पति के साथ संध्या समय जुहू भ्रमण करने गई थी। हम दोनों एक स्थान पर खड़े समुद्र की उत्तंग लहरों का कलरव देख रहे थे कि किसी के कंठ स्वर को सुनकर हम लोग चौंक पड़े। देखा कपटेन यज्ञदत्त, प्रेम और मणि। यज्ञदत्त मेरे पति को सम्बोधित करते हुए कह रहे थे "कहो कब आए ?" परसों "मेरे पति ने उनसे हाथ मिलाते हुए उत्तर दिया। प्रेम और मणि को वे पहचान गए। बोले "प्रेम भाई से तो मेरा खूब परिचय है।........"

इस समय प्रेम ने भी उनसे घनिष्ट परिचय की हामी भर दी और साथ ही दूसरे दिन उन्हें अपने यहां मेरे सहित भोजन के लिए निमंत्रित भी कर लिया। इस प्रकार मेरा प्रेम से सम्पर्क फिर प्रारम्भ हो गया। दृढ़ निश्चय ही रह गया।

दूसरे दिन ठीक समय पर मैं अपने पति के साथ प्रेम के बंगले पर पहुँच गई। रास्ते भर मेरे पति प्रेम की प्रशंसा ही करते

रहे और मैं मन ही मन कभी प्रसन्न और कभी सशंकित होती रही। सशंकित इस कारण से कि कहीं इन्हें मेरे गुप्त रहस्य का पता तो नहीं चल गया है, किन्तु मुझे शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि वे मेरे प्रेम रहस्य से सर्वथा अपरिचित हैं।

प्रेम और वे मैं और मणि चाय में साथ-साथ बैठे। मैं चाय पीती जा रही थी और मन ही मन घबड़ाती जा रही थी कि कहीं मेरा रहस्य इनको प्रकट न हो जाय। प्रेम मेरी व्याकुलता को समझ रहा था। उसने घूम फिर कर हम लोगों से सम्बन्धित बात प्रारम्भ कर दी। वह बोला "मिस्टर नवल, शायद आप सुधीर को नहीं जानते, शायद जानते भी हों। आजकल वह बड़ा दुखी है।"

"क्यों? क्या बात है? उसे मैं जानता तो हूँ।" उन्होंने चाय का प्याला नीचे रखकर जिज्ञासा की।

'बात क्या है। बेचारा अपनी पत्नी के कारण दुःखी है।"

"उसकी पत्नी सुधा, तो अत्यन्त सुशील और सुन्दर रमणी थी।"

"हाँ, वही उसकी सुन्दरता सुधीर के लिए अभिशाप हो गई।"

"क्यों"

"सुधीर बाहर गया था, एक या दो माह के लिए और इस बीच सुधा दूसरे की हो गई। अपने पति को त्याग कर वह चली गई।"

"चली गई कह कर वे चौंके "अपने पति को त्याग कर, और सुधीर देखता ही रहा"

"क्या करता बेचारा, सिविल मैरिज की थी, तलाक हो गया"

"तलाक।"

"हाँ, हाँ तलाक, सुधा ने उससे स्पष्ट कह दिया कि मैं अब तुमसे प्रेम नहीं करती, किसी दूसरे से करती हूँ। अब आपकी भलाई इसी में है कि तुम मुझे त्याग दो। सुधा की स्पष्टोक्ति सुनकर विवश सुधीर को तलाक देना पड़ा।"

मेरे पति कुछ नरम पड़े। बोले "वह तो ठीक है। यदि पत्नी नहीं चाहती तो पति को बलात् उसका पति बने रहने का कोई अधिकार नहीं। सुधीर समझदार है, उसने यह ठीक ही किया।"

प्रेम ने मुस्कराते हुए "पूछा यदि आप सुधीर की स्थिति में होते तो क्या करते।

वे कुछ चौंके फिर बोले "मैं……… मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। शायद बावला हो जाता या शायद गोली मार लेता आत्म-हत्या कर लेता………"इसके पश्चात् बंकिम दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए उन्होंने आगे कहा "इनके अभाव में मेरा जीना भी तो व्यर्थ होगा।"

मैं उनके इन शब्दों को सुनकर विह्वल हो उठी। मेरी अन्तरात्मा रो पड़ी। उन लोगों की ओर बातें चलती रहीं और मैं वहीं बठी अपने विचारों में ही डूब गई। मैं सोच रही थी "मैंने कितना बड़ा अपराध किया है कुपथ पर आकर, वास्तव में मैं इस व्यक्ति के योग्य अब रही नहीं। मैं………मैं इनसे सब खोल कर कह दूँगी, सब………कुछ भी नहीं छिपाऊँगी………किन्तु अभी नहीं………मैं एक बार प्रेम से इस विषय में स्पष्ट बात और कर लूँ फिर………किन्तु क्या यह वास्तव में आत्महत्या कर लेंगे…… केवल मेरे लिए। नहीं………यह पुरुष ऐसे ही बकते रहते हैं।…… यह मुझसे कितना प्रेम प्रदर्शित करते हैं और बाहर जाकर मेरा अधिकार किसी दूसरे को देते हैं………" किन्तु मेरी इस बात का मेरे अन्तर में किसी ने प्रतिवाद किया। कोई कह रहा था

"तुम्हारे पास इनके विरुद्ध कोई प्रमाण है……प्रेम ने कहा।……… क्या प्रेम तुम्हें पथ भ्रष्ट करने के लिए भ्रमित नहीं कर सकता…· मैं विह्वल हो उठी। इसी समय उन्होंने मुझे पुकारा किन विचारों में तल्लीन हो गई……… ।"

लगभग एक घन्टे के पश्चात् हम लोग प्रेम के यहाँ से वापस आए।

मेरे पति अभी कुछ ही दिन रहे थे कि अकस्मात् उन्हें दो दिनों के लिए पुनः बाहर जाना पड़ गया मुझे उस समय कुछ विशेष भला लगा। इसके पूर्व जब भी उन्हें एक दिन के लिए भी जाना होता था तो मैं विह्वल हो उठती थी, कभी कभी तो रो उठती थी। और वे………वे तो मुझसे भी कोमल हृदय के हो जाते थे। वे मुझे मौन रहने को कहते, दुलार करते किन्तु मेरी आँखों में पानी देखकर स्वयं व्याकुल हो जाते थे। मुझे चुपाने आते और स्वयं रो पड़ते, मुझे धैर्य देने आते और स्वयं धैर्य खो बैठते। उनको धैर्यहीन देखकर मुझे स्वय उन्हें धैर्य बँधाना पड़ता। उस समय मैं विचारती क्या कोई पुरुष अपनी पत्नी को इतना प्यार करता होगा। आज तक मैंने पुरुष के वियोग में स्त्री के विलाप की बात तो सुनी थी किन्तु स्त्री के वियोग की कल्पना में पुरुष का रोना…· । आप कह सकते हैं कि कायर पुरुष प्रत्येक स्थान पर रो पड़ते हैं। किन्तु मैं आपसे किंचित् मात्र असत्य नहीं कहती कि मेरे पति कहीं से कायर नहीं हैं। उनसा नर केहरी मैंने आज तक नहीं देखा। उनका मेरे वियोग की कल्पना में अधीर हो उठना निश्चित ही मेरे प्रति उनके अपार प्रेम का द्योतक था। किन्तु उनके प्रेम के इस मूल्य को मैं आज पहचान रही हूँ, उस समय तो मैं उनकी प्रत्येक चेष्टा में कृत्रिमता खोजने लगी थी। उस समय तो मुझे प्रेम का प्रेम ही वास्तविक लग रहा था। काश

मैं उस समय वास्तविकता को पहचान सकी होती।

हाँ, तो मैं कह रही थी कि मेरे पति पुन: दो दिनों के लिए बाहर चले गये। इस बार उनके जाने पर मैंने सोचा "भगवान ने यह मेरे हित में ही किया। मैं अब प्रेम से अन्तिम निर्णय करके ही रहूँगी और इस बार इनके वापस आने पर मैं निश्चित ही रहस्योद्घाटन कर दूँगी।" मैं उनको अधिक प्रवंचित करना ठीक नहीं समझती थी।

वे चले गए। उनके जाते ही मैं अपनी कार से प्रेम के बंगले पर जा पहुँची। मणि मुझे उस समय भी कहीं दीख न पड़ी, केवल प्रेम अपने रूम में खड़ा किसी से बातें कर रहा था। उसके बंगले पर मेरे ऊपर किसी का अनुशासन नहीं चलता था। मैं बिना रोक टोक कहीं भी जा सकती थी। उस दिन भी मैं निशंक उसके कमरे में घुसी चली गई थी। मैंने जो देखा वह मुझे नहीं देखना चाहिए था। मुझे देखकर वे दोनों अलग हो गए। प्रेम और वह दोनों ही घबड़ा गए थे। मैं उन दोनों को उस दशा में देखकर उसी स्थान पर माटी की मूरत की भाँति ज्यों की त्यों खड़ी की खड़ी रह गई थी। उस स्त्री को मैं देखते ही पहचान गई थी। यह वही स्त्री थी जिसे मैंने डांस करते समय प्रेम के साथ देखा था। मैं खड़ी सोच रही थी "क्या प्रेम वास्तव में नीच है, दुष्ट है.... मुझे उसने प्रवंचित किया है....नहीं मैं ऐसा नहीं होने दूँगी।.... में इसके सब कलुष को खोल दूँगी।.... मुझे उस दशा में देख कर प्रेम ने कहा "अरे, तुम इस समय। मैं तो स्वयं तुम्हारे ही यहाँ इन्हें लेकर आ रहा था। यह तुम्हारे ही बारे में पूछ रही थी। आपसे मिलिए....इतना कहकर उसने उस स्त्री की ओर इंगित करके कहा "यह हैं मिस अमिता, यों तो मेरी दूर की बहन लगती हैं किन्तु मैं मानता इन्हें मणि के समान हूँ...."

मेरी ओर संकेत करते हुए उसने अमिता से कहा "और यह मैं जिनकी चर्चा तुम से करता था""शैल "

उसने मुझे बढ़कर नमस्कार किया। मैंने अन्यमनस्क भाव से नमस्कार का उत्तर दिया किन्तु उस समय मैं विचार रही थी "क्या इन लोगों में, भाई-बहनों में भी आलिंगन चुम्बन की प्रथा है। यदि नहीं तो यह जो मैंने अपने नेत्रों से देखा क्या असत्य था ? या यह जो कह रहा है यह असत्य है। क्या सत्य है, क्या असत्य है आज मैं इसका निर्णय करके ही रहूंगी''''" मैंने निश्चय किया। मैंने कुछ संयत स्वर में प्रेम से कहा "क्षमा कीजियेगा, मैंने अनाधिकार चेष्टा अवश्य की, आपकी रंगरेलियों में या यों कहिये भाई-बहिन के सात्विक मिलन में व्यवधान डाला''''।'''' किन्तु मैं आपसे एकान्त में वार्तालाप करना चाहती हूँ। आशा है आप मुझे अवश्य समय देंगे।"

मेरे तीक्ष्ण व्यंग्य को वे दोनों समझ गए। प्रेम ने अपने को संभालते हुए कहा "मुझे गलत न समझो शैल। मैं अभी तुमसे बात करता हूँ।" इसके पश्चात् उसने अमिता को विदा करते हुए कहा "क्षमा करना मैं तुमसे फिर मिलूँगा''''" इससे पश्चात् मेरे सामने ही नेत्रों द्वारा ही दोनों में कुछ वार्तालाप हुआ और इसके पश्चात् अमिता चली गई।

अमिता के जाने के पश्चात् हम दोनों ही एकान्त में थे। बात उन्होंने ही प्रारम्भ की "शैल, तुम मुझे गलत समझ रही हो। मैं''''मैं तुम्हारे अतिरिक्त और किसी से प्रेम नहीं करता'''' मैं केवल तुमको''''।"

मैंने बीच में ही बात काट कर कहा "बस रहने भी दीजिए। देख लिया। सुनी हुई बात असत्य हो सकती है किन्तु मैंने तो अपनी आँखों से देखा है''''क्या यह सत्य नहीं है। आपको लज्जा

नहीं आती ? आप भाई-बहिन के पवित्र सम्बन्ध को खींचकर अपने लांछन को छिपाना चाहते हैं। आप....."

उसने बढ़कर मुझे अपने आलिंगन में ले लिया। फिर कृत्रिम प्रेम प्रदर्शित करते हुए बोला "नहीं, अब मैं पवित्र सम्बन्ध को अपवित्र नहीं बनाऊँगा....। मैं....सत्य कहता हूँ वह मुझे अपने जाल में फांसना चाहती थी किन्तु....."

मैं बीच में ही आवेश से बोली "हाँ, हाँ आप नन्हें बबुए हैं न। एक मैंने आपको अपने जाल में फाँस लिया और एक वह फाँसने जा रही थी ?" इतना कहकर मैंने अपने को उसके भुजा-पाश से मुक्त कर लिया।

इस बार वह कुछ व्यंग्य से बोला "तो आप भी कोई बच्ची नहीं थीं कि मैंने आपको फुसला लिया। क्या आपने प्रथम यह सब नहीं सोचा था। क्या आपने यह नहीं सोचा था कि आप अपने बच्चे और पति को त्याग कर किसी दूसरे की होने जा रही हैं ? और यदि आपने यह सब नहीं सोचा था तो मैं ही कौन होता हूँ इन सब पर विचार करने वाला। मैं....."

मैं उसके वाक्यों को सुनकर फफक कर रो पड़ी। रोते हुए भी बोली "ठीक कहते हो। मैं ही तो कुल त्यागिनी, पति त्यागिनी, पुत्र त्यागिनी, धर्म त्यागिनी बनी। मैं स्वयं ही तो पतित हुई। दोष मेरा है, मैं पतित हुई मैं नारी थी, इसीलिए न। और तुम पुरुष हो इसी लिए तुमने कोई पाप नहीं किया। तुम तो पूरे दूध के धुले ही रहे पाप तो मैं ही करती रही। यह क्या मेरा कोई कम अपराध है कि मैं नारी हूँ और तुम पुरुष। मैं....."
मुझे आवेश में आया देखकर वह संयत होकर धैर्य से बोला "शैल आवेश में आना ठीक नहीं। मैं तुम्हारा हूँ। सदैव रहूँगा, ऐसे ही।"

"नहीं, अब ऐसे नहीं''' मैं अब बच्चों को त्यागने को तैयार हूँ, पति को भी तलाक देने को तत्पर हूँ''' मैं तुम्हें अब अधिक उन्मुक्त विचरण करने नहीं दूँगी''' मैं''' मैं तुम से अब विवाह करके ही रहूँगी'''।"

मेरी यह बात सुनकर उसका चेहरा सफेद पड़ गया किन्तु वह बात बनाकर बोला "आवेश में मत आओ शैल। मैंने विवाह करना अस्वीकार कब किया। किन्तु वह कितना भीषण होगा। तुम विचार तो करो अभी तुम आवेश में हो, ठंडे हृदय से विचार कर तुम मुझ से कहना''''''अभी''' विचार लो।"

"विचार लिया है''''''" कह कर मैं आवेश में वहाँ से लौट पड़ी।

मैं घर पहुँच कर चुपचाप आकर पड़ रही। न जाने क्यों दृढ़ निश्चय कर लिया था कि अब मैं अपने पति से भी नहीं छिपाऊँगी। मैं एक एक बात स्पष्ट कर दूँगी। और प्रेम''''''' प्रेम।" सोचते-सोचते मैं कुछ रुकी। मेरे समक्ष एक विराट प्रश्न आ खड़ा हुआ "क्या प्रेम अब भी मुझ से प्रेम करता है। तत्काल उत्तर मिला "अवश्य करता है किन्तु मेरे बच्चों के कारण ही वह विवाह नहीं करना चाहता। बच्चों के कारण''''''मुझ से उसे प्रेम तो है ही।" किन्तु आज का दृश्य। क्या वह मुझे अमिता की ही भांति प्रवंचित तो नहीं करता रहा।" आज न जाने क्यों मेरे समक्ष पिछली स्मृतियाँ एक-एक कर आने लगीं। ताज होटल में प्रवेश करते समय सुने हुए वाक्य, नृत्य घर में सुनी है आलोचना और''' और आज का दृश्य। क्या वास्तव में प्रेम नीच है, दुश्चरित्र है, पापी है''' स्त्रियों, को भोली-भाली बालिकाओं को कुपथ पर खींचने वाला है''' यदि ऐसा भी है तो भी मैं उस से विवाह करूँगी, निश्चित करूँगी।

यह जानते हुए भी, क्यों ? किसी ने प्रश्न किया।

उत्तर भी प्राप्त हुआ "हाँ, जानते हुए भी। मैं अब प्रेम को सुधारना चाहती हूँ या यों कहो उसे भला बनाना चाहती हूँ। एक बार उससे प्रेम कर चुकी हूँ उसका निर्वाह करना चाहती हूँ।

....किन्तु नवल से क्या तूने प्रेम नहीं किया ? उनके प्रति क्या तेरा कोई कर्तव्य नहीं।

कर्तव्य था किन्तु मैं अब स्वयं पतित हो चुकी हूँ, अब उस देवता को मैं नीचे नहीं खींचना चाहती उस धरातल पर मैं उसे नहीं लाना चाहती, जहाँ मैं हूँ....मैं गिर चुकी हूँ किन्तु मैं उन्हें अब गिराऊँगी नहीं....मैं अपने को मिटाकर दो को बनाऊँगी, मैं प्रेम को सुधारूँगी। "किन्तु इसी समय एक पाश्विक विचार उठा" क्या मैं अब भी प्रेम से वासना के कारण प्रेम करती हूँ ? मेरे हृदय में अब भी क्या वासना प्रधान नहीं है।....मान लो है.... किन्तु इसी वासना के कारण तो प्रेम गिरता जा रहा है, मैं उसे अब अधिक गिरने नहीं दूँगी। मैं उससे प्रेम करती हूँ....क्या तामसिक प्रेम।....हाँ, हाँ, तामसिक ही सही। किन्तु अब मैं यह देखना नहीं चाहती कि वह मेरी ही भाँति अन्य सतियों का सतीत्व नष्ट करे, कुमारिकाओं को पथ भ्रष्ट करे.... मैं उसे अधिक उन्मुक्त नहीं रहने दूँगी.... मैं उसे बन्धन में बाँधूँगी।.... अपने पति से कुछ नहीं छिपाऊँगी, कुछ नहीं........।"

यह विचार आते ही मैं अपने को पूर्ण स्वस्थ अनुभव करने लगी। अब मैं निश्चिन्त थी। मुझे लगता था कि इन निर्णय के पश्चात् मेरा एक भारी बोझ उतर गया हो। मैं स्वस्थ थी, प्रसन्न थी।

दो दिन पश्चात् ही मेरे पति आ गए। मैंने उनका ऊपरी हृदय से स्वागत किया। मैंने उस समय उनसे कुछ बतलाना उचित नहीं

समझा। वे बच्चों में अपना मन बहलाते रहे। बच्चों से हटकर वे मेरे पास आये। मैं अपने कक्ष में अपने को शान्त करने के लिए बैठी थी। वे आये और मेरे समीप ही आकर बैठ गए। मैं घबड़ा गई। मुझे लगा कोई अपरिचित मेरे समीप आकर बैठ गया हो। मैं सकुचाई-सी बैठी रही। कुछ समय तक वे वैसे ही बैठे रहे फिर मेरा स्पर्श करके वे बोले, "प्रिय, क्यों रूठी हो, बात तो कहो।"

मैंने उनका हाथ शरीर से हटा दिया किन्तु कुछ बोली नहीं।

वे मेरे प्रयास से कुछ संकुचित हुए। फिर अधीर होकर उन्होंने पूछा, "क्यों, इतनी रुष्ट हो।·······आखिर क्या बात है। ·······तुम दिन पर दिन इतनी ठण्डी क्यों होती जा रही हो। ·······क्या अब मैं प्रेम करने योग्य नहीं रहा, या·······या कुछ और बात हो गई·······! बोलो।"

मैं बोल न सकी। सोचती रह गई, "हाय! क्या कहूँ। क्या कह दूँ कि आप नहीं मैं स्वयं प्रेम के योग्य नहीं रही·······मैं पतित हो चुकी हूँ·······मैं······· मैं अब आपके योग्य नहीं रही हूँ·······" किन्तु कह कुछ न सकी। मुझे मौन देखकर वे फिर बोले, "मैं तुममें कुछ परिवर्तन देख रहा हूँ शैल। बोलो, यह सब क्यों। बोलो·······"। उन्होंने बड़ी कातरता के साथ मुझसे प्रश्न किया।

मैं फिर भी मौन रही। इस बार वे कुछ आवेश में आ गए। बोले, शैल, मैं तुममें परिवर्तन देख रहा हूँ। मुझे पता चला कि तुम मेरी अनुपस्थिति में कहीं गई भी थीं·······किन्तु मुझे इससे कोई सरोकार नहीं। मैंने तुम्हारी स्वतन्त्रता पर कोई बन्धन नहीं डालना चाहा और न मैं आज चाहूँगा। किन्तु मैं आज यह पूछने को विवश हो रहा हूँ कि क्या तुम मुझे·······मुझसे प्रथम की भाँति ही प्रेम करती हो।····अथवा प्रेम करती भी हो या नहीं।"

मैं इस पर भी बोली नहीं। वे विस्मय से देखते रहे। फिर बोले, "तुम्हारे इस मौन का कारण। क्या तुम वास्तव में मुझे प्रेम नहीं करतीं।.......बोलो। क्या तुम मेरे प्रति वफादार रही हो.... क्या......." वे आगे बोल न सके।

मैं अब मौन न रह सकी। मैंने सब कुछ कह डालने का साहस किया, किन्तु इतना ही कह सकी, "मैं.... .. मैं आपके प्रति वफादार नहीं हूँ......." इसके आगे मेरी जिह्वा उठ न सकी। किससे प्रेम करती हूँ, क्यों करती हूँ ? कुछ कह न सकी।

मेरी बात सुनकर वे एकटक मुझे ताकते रहे। न कुछ हिले न डुले, अचेत से बैठे रहे, अपलक मुझे देखते हुए। फिर अनायास ही उनके मुख से निकल गया, "क्या शैल......." फिर कुछ संयत होकर उन्होंने कहा, "सचमुच तुम मुझे प्यार नहीं करतीं। सच कहो। मैं भी तुम्हारा पति हूँ किन्तु मैं अपने पति भाव को तुम पर लादूँगा नहीं, मैं तुम्हें स्वच्छन्द कर दूँगा.......मेरी छोड़ो शैल.......... मैं मरूँ या जियूँ किन्तु..........तुम प्रसन्न रहो....... मैं......." कहते-कहते उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

उनका यह दृश्य देखकर मैं रो पड़ी। अब अपने को संयत न रख सकी। मैं सिसकते हुए बोली, "मुझे क्षमा करो, मैंने तुम्हें प्रवंचित किया है, धोखा दिया है।.......तुम्हारे आदर्श प्रेम को मैंने छला है, अपवित्र किया है.......सचमुच मैं अब तुम्हारे योग्य नहीं रही...... मैंने तुम्हारे रहते किसी दूसरे को अपने को सौंप दिया है।.......मैं आपसे......." मैं रुक गई। मैं आगे कहना चाहती थी कि मैं आपसे तलाक चाहती हूँ किन्तु कह न सकी।

वे बोले, "शैल, सचमुच मैंने पहचानने में भारी भूल की। तुमको मैं रोकूँगा नहीं किन्तु.......तुम मुझे.......इतना बतला दो कि वह कौन भाग्यशाली है जो तुम्हें मुझसे अधिक प्यार दे

सकेगा। मुझमें तुमने क्या अभाव देखा, बोलो·······बोलो शैल।" उन्होंने यह कहते हुए दोनों हाथों से पकड़कर झकझोर कर प्रश्न किया। मैं मौन ही रही। वे अब संयत स्वर में बोल रहे थे "शैल, तुम जाओ। मुझे तुमने पहचाना नहीं और न मैंने तुम्हें। मैं अपनी प्रशंसा नहीं करना चाहता, किन्तु मैं इतना कहूँगा कि मैं केवल तुमको प्रसन्न देखना चाहता हूँ और यदि तुम दूसरे से विवाह करके प्रसन्न रहना चाहती हो तो जाओ, मैं उसमें तुम्हारी सहायता करूँगा, मैं·······मैं तुम्हारे मार्ग को निर्विघ्न करूँगा, अपने को हटाकर तुम्हारे मार्ग को निष्कंटक, सरल और······· तुम बताओ भी तो·······" वे कुछ रुके। फिर कुछ आवेश से बोले, किन्तु मैं सहन न करूँगा कि तुम एक साथ दो की होकर रहो। एक की रहो·······किसी की रहो। किसी की भी रहो, विवाह बंधन में बधकर रहो। स्वेच्छाचारिणी बन कर मैं तुम्हें रहने न दूँगा।··········ऐसी दशा में मैं तुम्हें भले ही छोड़ दूँ किन्तु अपने को मैं उस दशा में जीवित न देख सकूँगा।" कुछ रुककर फिर उन्होंने कहा, शैल, वह कौन है ?·······बोलो"।

मैं भी न रही। फिर स्वयं बोले "क्या प्रेम।"

मेरा सिर मेरे चेष्टा न करने पर भी हिल गया। मानों मेरे हृदय की बात को वह रोक न सका। वे समझ गए। प्रथम कुछ उत्तेजित हुए फिर संयत होकर बोले, "ठीक है, किन्तु क्या वह तुमसे विवाह करना चाहता है।"

मैं इसी प्रश्न की आशा में थी किन्तु तो भी उत्तर न दे सकी। भला क्या उत्तर देती। वह भी तो मुझे टाल रहा था। उसकी इच्छा भी तो विवाह की नहीं थी। फिर क्या उत्तर दूँ। मैं इसी सोच विचार में थी कि उन्होंने फिर पूछा, "बोलो।" मैं फिर नहीं बोली। इस बार मुझे धीरज बंधाते हुए कहा, मैं जानता हूँ कि प्रेम ने तुम्हें पथ-भ्रष्ट किया है, तुमको प्रवंचित

किया है.........किन्तु अब भी यदि तुम वचन दो कि तुम भविष्य में प्रेम से नहीं मिलोगी, कभी नहीं मिलोगी.........तो मैं तुम्हें क्षमा कर सकता हूँ।" Nanavati case)

मुझे इनकी यह उदारता पता नहीं क्यों भली नहीं लगी। मुझे लगा कि यदि मैं इनका यह वचन स्वीकार कर लेती हूँ तो मैं सदैव परतन्त्र रहूँगी, मैं सदैव इनकी दृष्टि में अपराधिनी ही रहूँगी। मैं कितना ही अपने को पवित्र बनाने का प्रयत्न करूँगी किन्तु इनसे वह प्रेम न पा सकूँगी। शंका के साम्राज्य में मुझे सदैव रहना पड़ेगा। मेरा अहं यह सहन न कर सका। मैंने दृढ़ निश्चय किया मैं मर जाऊँगी किन्तु इस शंका के साम्राज्य में कभी भी नहीं रहूँगी।... मैं इनकी उदारता नहीं चाहती....एक ऐसी उदारता नहीं चाहती जो मुझे आजीवन परतन्त्रता दे....मैं प्रेम को आत्मसमर्पण कर चुकी हूँ....उसी से विवाह करूँगी।.... प्रेम से ही....उसी से विवाह करूँगी।..प्रेम से ही....." मुझे मौन देख कर उन्होंने फिर पूछा, "बोलो—तुम क्षमा नहीं चाहती। ठीक है तो क्या प्रेम तुम्हारे और तुम्हारे बच्चों का संरक्षक बनने को तैयार है?" "बोलो।....." मैं कुछ नहीं बोली। मुझे मौन देखकर वे उत्तेजित होकर यह कहते हुए चल दिये, "न बोलो। मैं स्वयं जाकर प्रेम से इसका निर्णय कर लूँगा।" उनको जाता देखकर मैंने उन्हें पकड़ लिया मेरे अधर हिले। मैंने रोते हुए कहा, "नहीं, नहीं आप वहाँ न जाइए नहीं तो वह आपको गोली मार देगा....नहीं मैं आपको नहीं जाने दूँगी, कभी नहीं।" इतना कहकर मैंने उनका हाथ पकड़ कर रोक लिया। इसी समय कमरे में किसी के आने का पदचाप सुनकर दोनों का ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया। देखा, आलोक के साथ पड़ोस का एक बालक आया हुआ है। मुझे देखकर आलोक ने कहा, "मम्मी, विजय सिनेमा चलने को कह रहा है, चलोगी।"

मुझसे पहले उसके पापा अपना आवेश भूल कर बोले—"हाँ, हाँ।"

"अवश्य, मम्मी को अवश्य ले जाना।"
बच्चों को उनकी बात से प्रोत्साहन मिला। उत्साह से बोले—

"पापा आप भी...."

बीच ही में बात काटकर वे बोले—"नहीं बेटा, आज नहीं, आज मम्मी के साथ और कल मेरे साथ....फिर देखना कि किसका संग तुम्हें अधिक भला लगता है।" इतना कह कर वे हँसे। फिर बोले, "आज मुझे थोड़ा काम भी है...." इस बार वे बच्चों को दुलार करते हुए चले गये।

उनकी प्रसन्न मुद्रा देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे लगा कि वे अभी हुई बात को भूल गए। उस समय मुझे उनकी सहनशीलता पर आश्चर्य हुआ। मेरे मन में आया कि अब भी समय है, क्यों न इस विशाल हृदय पुरुष के चरणों पर गिर कर अपने अपराध के लिए मैं क्षमा याचना कर लूँ। किन्तु मैं उस समय वैसा न कर सकी। वे मेरे कुछ कहने के पूर्व ही बाहर चले गए थे।

कुछ समय के पश्चात् वे फिर आए। दोनों बच्चे अभी वहीं खड़े थे। उन्हें सम्बोधन करते हुए वे बोले, "मैट्रो में देखने जाओगे। उसमें काफी भीड़ होगी। क्यों न अभी चल कर टिकट रिजर्व करा लिया जाय। मैं भी साथ चला चलूँगा," 'टाइगर' (कुत्ते का नाम) के लिये उधर से दवा भी लेता आऊँगा। सभी के चलने की योजना बन गई। मैं भी साथ थी। टिकट बुक करा कर हम लोग वापस चले आए और वे दवा लेने चले गए।

लगभग बारह बजे के वे लौटे। हम लोगों ने साथ ही भोजन

किया। भोजन से निवृत्त होकर मैं उनसे एकान्त में मिली। मैंने उस विषय में कुछ वार्तालाप करना चाहा किन्तु पता नहीं क्या विचार कर वे बोले—"अब उस विषय में कोई बात करने की इच्छा नहीं। यदि तुम्हारी इच्छा ही हो तो कल इस विषय में निर्णायक बात कर लूँगा।" इतना कह कर वे मौन हो गए। मैं कुछ कहने ही जा रही थी कि फिर आलोक के साथ पड़ोसी का बालक तैयार होकर आ गया। मन की मन में ही रह गई।

बच्चे सिनेमा जाने के लिए तैयार होकर आए थे। उन्होंने मुझसे भी तैयार होने को कहा। मैं भी शीघ्र तैयार हो गई। आप बोले, "चलो, मैं तुम लोगों को पहुँचा दूँगा और फिर लौटते में ले लूँगा। उधर ही मुझे अपने काम से भी जाना है।"

उन्होंने हम लोगों को सिनेमा हाल में पहुँचा दिया और स्वयं सिनेमा समाप्त होने का समय पूछ कर, आने का वचन दे गए।

उन्होंने मेरे साथ भोजन किया था, साथ आए थे, बैठे थे किन्तु इस बीच वे मुझे आवश्यकता से अधिक गम्भीर लगे। एक दो बार मैंने उनसे बात करने की चेष्टा भी की किन्तु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। वे अन्यमनस्क रहे। सिनेमा में हम लोगों को बैठाल कर जाते समय उनकी मुख मुद्रा मुझे कुछ विचित्र-सी लगी। मैंने अपने जीवन में उनकी वैसी मुख—मुद्रा कभी नहीं देखी थी। मुझे लगा कि वे मन ही मन कोई दृढ़ संकल्प कर रहे हैं। उनके संकल्प की दृढ़ता कहीं से भी भंग न हो जाय इसी कारण से वे मौन थे। मैं उनकी वह भीषण मुख मुद्रा देखकर व्याकुल हो उठी। मैंने उन्हें रोकना चाहा किन्तु वे रुके नहीं। चले ही गए।

मैं बच्चों के साथ बैठी सिनेमा देख रही थी। किन्तु वास्तव में मेरा मस्तिष्क वहाँ था ही नहीं। मेरे मस्तिष्क में उस समय न

जाने कहाँ-कहाँ के विचार आ रहे थे। कितनी ही पुरानी स्मृतियाँ मानस पटल पर आती जा रही थीं। उस खेल के कौन-कौन से दृश्य निकल गए, मुझे यह भी स्मरण नहीं रहा। उस समय मेरी पुरानी स्मृतियाँ आती जा रहीं थी। पिछले स्वप्न मुझे स्मरण थे। मुझे स्मरण आया, "हम दोनों पास-पास सो रहे थे। अकस्मात् मैं भयानक स्पप्न देखने के कारण जाग उठी थी। क्या स्वप्न था। हाँ ठीक तो है, मैंने देखा था मेरे और इनके बीच कोई तीसरा व्यक्ति आ गया है। उसने मुझ पर इनकी उपस्थित में ही अधिकार कर लिया है। मुझे परे करके वे उस व्यक्ति पर टूट पड़ते हैं और मेरी निन्द्रा टूट जाती है.........."क्या आज यही स्वप्न पूर्ण तो नहीं होने जा रहा है। ओह।.............."विचारधारा कुछ रूकी। फिर एक विचार आया, "उन्होंने भी तो ऐसा ही एक स्वप्न देखा था। ओह, कितना व्याकुल हुए थे वे। क्या यह स्वप्न सत्य होंगे। क्या यह स्पप्न आगामी घटनाओं के संकेत थे। यदि हाँ, तो क्या यह उस तीसरे व्यक्ति पर टूट भी पड़ेंगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा, यह असम्भव है। मेरे पति देवता हैं, वे ऐसा नहीं करेंगे।" यह विचार कर मैंने अपने को धीरज देना चाहा किन्तु विचारों ने धीरज बंधने नहीं दिया। फिर विचार आया, "देवता। हाँ देवता ही थे, किन्तु देवता को जब प्रवंचित किया जाता है तो वह कितना उग्र हो जाता है और मैंने अपने देवता को छला है तब उनका उग्र रूप............। फिर क्या आगामी संकेत भी सत्य में परिणित होगा।............" आगे मैं सोच न सकी। इसी समय मध्यान्तर हो गया था।

मध्यान्तर के पश्चात् फिर खेल प्रारम्भ हुआ। किन्तु मेरा ध्यान फिर खेल पर स्थिर न रह सका। मेरे मस्तिष्क के समक्ष पिछले देखते हुए खेल, "अन्ना केर निना" के दृश्य एक-एककर खिंचने लगे। उन दृश्यों की स्मृति आते ही मैं काँप उठी। मुझे

लगा, "मेरी भी दशा अन्ना की ही भाँति होगी। क्या मुझे भी आत्महत्या करनी होगी। क्या मुझे भी अन्ना बनना पड़ेगा।.... नहीं....नहीं मैं आत्महत्या नहीं करूँगी। किन्तु मेरे पति। क्या वे भी आत्महत्या नहीं करेंगे। क्या वे प्रेम....नहीं, नहीं" यह सोच कर मैं काँप उठी।

मेरी विचारधारा रुकी नहीं, चलती ही रही। मैं सोच रही थी कि "कहीं ये आत्महत्या करने तो नहीं चल दिये। उन्होंने कहा भी था कि यदि तुम मेरे रहते किसी दूसरे की हुई तो मैं आत्महत्या कर लूँगा....। क्या यह भी सम्भव है।.... "फिर मन ने वर्जना की, "किन्तु यह तुम विचार ही क्यों रही हो?....उनकी कठोर आकृति देखकर, बिगड़ा हुआ रंग देखकर।...." मन ने फिर धीरज बँधाया, "नहीं, वे इतनी बड़ी भूल नहीं करेंगे....नहीं करेंगे। मैं अब विचारों से व्याकुल हो उठी थी। अत: मैंने अपने मन को हटाकर चलते हुए खेल पर लगाया। खेल का अन्तिम दृश्य था। कुछ ही क्षणों पश्चात् खेल समाप्त हुआ और मैं बच्चों के साथ बाहर आई।

जैसा कि उन्होंने हम लोगों को आश्वासन दिया था खेल समाप्त होने पर मैं आकर तुम लोगों को लेता चलूँगा, किन्तु वे आए नहीं। कुछ समय तक हम लोग खड़े उनकी प्रतीक्षा करते रहे। यह मेरे लिए प्रथम अवसर था कि जब उन्होंने वचन देकर उसका निर्वाह न किया हो। मैं व्याकुल हो उठी। मेरी शंकाओं को व्यर्थ ही आधार मिल रहा था, अत: मैं शीघ्र ही टैक्सी द्वारा बच्चों को लेकर अपने बंगले पर पहुँच गई। किन्तु आश्चर्य। वहाँ भी वे न थे। नौकर से पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे अभी लौटे ही नहीं हैं। मैं किसी अज्ञात आशंका से व्याकुल हो उठी। इसी समय मेरा एक नौकर दौड़ा आया। हाँफते हुए ही वह बोला, "मेम साहब, साहब...."

आगे वह कुछ कह न सका। मैं और भी व्याकुल हो उठी। मैंने चिल्लाकर उससे पूछा—"क्या हुआ बोल? साहब को क्या हुआ।" वह कुछ रुककर भय से काँपते हुए बोला, "रामू कह रहा था कि तुम्हारे मालिक ने किसी को मार डाला है......."

यह सुनकर मैं काँप उठी। मेरा कंठ स्वर अवरुद्ध हो गया। मैं उससे पूछना चाहती थी, "किसे? क्यों? कहाँ।" किन्तु कुछ न पूछ सकी। केवल उसकी निर्निमेष नेत्रों से ताकती रह गई। उस समय मेरे नेत्रों में अश्रु छलछला आए थे। मेरी यह दशा देखकर वह व्याकुल होकर बोला, "माँ जी आप...."

मैं कुछ संयत होकर बोली, "तूने कहाँ सुना?" किन्तु यह प्रश्न पूछकर मैं स्वयं यह सोचकर लज्जित हो गई कि अभी तो यह बतला चुका है कि रामू ने यह सूचना दी है। यह सोचकर मैंने तुरन्त दूसरा प्रश्न कर दिया, "किसकी?" प्रश्न अधूरा था किन्तु वह समझ गया। बोला, "ये तो मालूम नहीं, शायद...." यह कहकर वह मेरी ओर देखकर रुक गया। मैं समझ गई कि वह क्या कहना चाहता है। निश्चित ही उन्होंने प्रेम की हत्या की है।" मैं यह सोचकर व्याकुल हो उठी, "ओह। प्रेम की हत्या! प्रेम।....नहीं-नहीं प्रेम की हत्या....मेरा प्रेम! उसकी हत्या.... नहीं....।" मैं यही सब विचारती हुई रात भर व्याकुल रही। रात में ही मुझे यह ज्ञात हो जाने पर कि मेरे प्रेमी की हत्या मेरे पति ने की है, तथा अब न मेरे समीप मेरे पति रहेंगे और न प्रेम ही, मेरे मस्तिष्क, मेरे हृदय की दशा क्या हुई होगी इसकी शायद आप कल्पना भी न कर सकें। मैं यहाँ पर अपनी इस समय की मनोदशा का वर्णन करना भी नहीं चाहती। मैं आज सोचती हूँ कि वह हत्या तो मैंने ही करवाई, अपराध मेरा ही तो था। किन्तु दण्डित मैं नहीं हुई मेरे पति ही हुए। काश! मुझे इसका दण्ड मिला होता।

इसके आगे की कथा न्यायालय में मैंने अपने पति के मुख से सुनी। उनके उस वर्णन को मैं बड़े ध्यान से सुनती रही। मैं उनके मनोभावों से उनके हृदय के भावों को पढ़ने की चेष्टा करती रही।

मुझे सिनेमा हाल में छोड़ने के पश्चात् वे अपने जहाज की ओर चल दिए। मेरा विचार है कि उस समय उनके मस्तिष्क में दो प्रकार के विचार उठ रहे होंगे, "प्रथम क्या मैं आत्महत्या कर लूँ" और दूसरा कि "मेरा आत्महत्या करना उचित नहीं।" मेरी पत्नी को प्रवंचित करने वाला पातकी तो प्रेम है, क्यों न मैं उससे ही प्रतिशोध लूँ? उनके इन विचारों का आभास मुझे उसी समय उनकी आकृति देखकर ही हो गया था। उस समय मेरी शंका निर्मूल नहीं थी। मेरे पति ने इसके आगे की कथा न्यायाधीश के समक्ष बतलाते हुए कहा, "मेरा चित्त उद्विग्न था। मैं अपने बच्चों और पत्नी को सिनेमा हाल में छोड़ने के पश्चात् इस चिन्ता में पड़ा कि मैं अब कहाँ जाऊँ, क्या करूँ। शीघ्र ही मुझे स्मरण आया कि मेरा कुत्ता बीमार है, प्रात: मैंने उसकी औषधि के लिए प्रयत्न किया था किन्तु मिली न थी। न हो उसी को ले आया जाय। मैं औषधि लेने को चला। इसी समय मुझे स्मरण आया, औषधि तो मेरे जहाज पर ही रखी है, क्यों न मैं उसे ही ले लूँ। वही ठीक रहेगा, यही विचार कर मैंने अपनी कार समुद्र की ओर, जिधर मेरा जहाज खड़ा होता था, मोड़ दी।"

"मेरी कार जितनी गति से भाग रही थी, उतनी ही गति से मेरी विचारधारा भी चल रही थी। मार्ग में मेरे मस्तिष्क में एक विचार उठा, मैं जहाज पर जा रहा हूँ, क्यों न चल कर वहाँ से रिवाल्वर ले लिया जाय। रिवाल्वर! मेरा मन कुछ रुका।" फिर कोई बोला, "अरे तू लेने तो औषधि जा रहा है, रिवाल्वर क्या करेगा।" उत्तर मिला, "आत्महत्या करूँगा। आत्महत्या। क्यों............

म इस संसार में रहना नहीं चाहता..............मैं ऐसे संसार में रहना नहीं चाहता, जहाँ प्रवंचना हो, छल हो, प्रेम का कोई मूल्य न हो। जहाँ पत्नी पति के साथ विश्वासघात करे और पति निरीह............मैं यह सोचते-सोचते रुक गया। फिर विचार आया" जब लोग पूछेंगे कि शैल, मेरी पत्नी कहाँ गई।'''....तो क्या मैं उत्तर दूँगा वह मुझे त्याग कर चली गई।........प्रश्न होगा "क्यों ?" तब मैं क्या कहूँगा। लोग मुझ पर हँसेंगे'''कहेंगे, "देखो, यही नबल है, इसकी पत्नी इसे त्याग कर भाग गई...."। यह विचार आते ही मुझे संसार मेरे सामने मेरा उपहास करता दीख पड़ा। मैं इस विचार मात्र से व्याकुल हो उठा। मैंने दृढ़ निश्चय किया, "नहीं, मैं संसार का उपहास पात्र नहीं बनूँगा। मैं निश्चित ही आत्म हत्या करूँगा...मुझे इस संसार में नहीं रहना। "यही दृढ़ निश्चय कर मैं अपने जहाज पर पहुँच गया। मैंने पहुँचते ही अपने अफसर से रिवाल्वर के लिए प्रार्थना की।"

"उसके कार्य पूछने पर प्रथम तो मेरे मन में आया कि मैं बतला दूँ कि मैं स्वयं इस संसार से छुटकारा पाना चाहता हूँ किन्तु यह विचारकर कि मेरे यह बतलाते ही मुझे रिवाल्वर नहीं मिलेगी। मैंने बात बनाते हुए कहा "मुझे रात्रि में बाहर जाना है, अतः रक्षार्थ अपने पास उसे रखना है।"

"उन्होंने मेरी बात की पुष्टि अपने अन्य सहयोगियों से की और मुझे रिवाल्वर दे दिया गया। रिवाल्वर मिलते ही मैं तुरन्त अपनी कार से वापस लौट पड़ा। मार्ग में एक स्थान पर निर्जन देखकर मेरी इच्छा हुई कि मैं यहीं आत्म हत्या क्यों न कर लूँ। किन्तु आत्म हत्या करने के पूर्व एक पत्र तो लिख दूँ शैल के नाम वह सुखी रहे मैं जा रहा हूँ।........किन्तु इसी समय एक नवीन विकार मेरे मस्तिष्क में आया, "किन्तु.......यदि मेरी मृत्यु

के पश्चात् प्रेम ने शैल को प्रवंचित किया, उससे विवाह न किया, तब शैल का क्या होगा······· तब शैल का क्या होगा ?" इस विचार से मेरे मस्तिष्क में एक अन्य विचार प्रादुर्भूत हुआ। मैंने सोचा, "क्यों न चलकर मैं ही प्रेम से इस विषय में वार्तालाप कर लूँ ? यदि वह शैल से विवाह करने को और बच्चों का उत्तरदायित्व लेने को तत्पर हो तो मैं विधिपूर्वक शैल को उसे सौंप कर मैं उसके मार्ग से सदैव के लिए हट जाऊँगा।" यह विचार आते ही मैंने कार को प्रेम के कार्यालय की ओर मोड़ दिया। मुझे यह ज्ञात था कि वह संध्या समय अपने कार्यालय में ही रहता है। एक बात मैं बतलाने को भूल ही गया। जो रिवाल्वर मुझे प्राप्त हुआ था, वह किसी केस में मुझे नहीं दिया गया था। गोली के साथ वह खुला ही मुझे दिया गया था। अत: कारतूस मैंने उसमें भर लिए थे और उसे मैंने एक लिफाफे में लपेट कर पास ही में रख लिया था।

"मैं प्रथम प्रेम के कारखाने पहुँचा किन्तु वहाँ वह न मिल सका। मैंने वहीं से कार उसके घर की तरफ मोड़ दी। उसकी कार बाहर खड़ी थी। अतएव मुझे आभास हो गया कि प्रेम निश्चित ही घर पर है। यही विचार कर मैं उससे मिलने के लिए उसकी कोठी में घुसा। अन्दर पहुँच कर मैंने चपरासी से पता किया, तो ज्ञात हुआ कि प्रेम ऊपर के कक्ष में है। मैं ऊपर उससे मिलने को सीढ़ियों पर चढ़ने जा ही रहा था कि मुझे स्मरण हो आया कि शैल ने कहा था कि "आप उससे न मिलिएगा, अन्यथा वह आप को गोली मार देगा।" यह सोचकर मैं पुनः लौट पड़ा। आकर मैंने कार से लिफाफा उठाया और पुन: उसके कक्ष की ओर चल पड़ा।"

"जिस समय मैं उसके शयनकक्ष के समक्ष पहुँचा, मुझे अन्दर वह दीख पड़ा। वह ड्रेसिंग टेबिल के सामने खड़ा था

अतः मेरी ओर उसकी पीठ थी। मैं बिना अधिक आहट किए कमरे में हो लिया। अन्दर पहुँचकर सर्वप्रथम मैंने बाहर के दरवाजों को बन्द कर लिया। यह कार्य भी मैंने निःशब्द ही किया। वह गुनगुनाता हुआ कुछ गा रहा था। अतः इस ओर उसका ध्यान भी न गया। मैं कुछ समय तक अपने स्थान पर सोचता ही खड़ा रहा, कि यह वही व्यक्ति मेरे सामने खड़ा है जिसने मेरी पत्नी को पथ-भ्रष्ट किया है, जिसने मेरे सुख में आग लगाई है, जिसने''''''''इसके आगे मैं उसके विषय में विचार न कर सका। कारण मुझे उस पर क्रोध आ गया था। मैंने अपने को अत्यधिक संयत करने का प्रयत्न किया किन्तु तो भी मेरे ही मुख से निकल गया, "विश्वासघाती, सुअर के बच्चे। तुझे मेरे साथ ही विश्वासघात करना था।''''''''"

मेरी यह आवाज सुनते ही वह बड़ी फुर्ती से मेरी ओर घूमा। किन्तु मुझे देख कर वह कुछ क्षण के लिए स्तब्ध रह गया। फिर कुछ संभल कर बोला, "क्यों? बात क्या है?"

"हाँ, तुम्हें क्या ज्ञात होगा? किन्तु मैं आज यह निश्चय करके आया हूँ कि''''''''" मैं बात पूर्ण भी न कर पाया था कि उसने मुझे झिड़क दिया, "मेरे समीप तुम्हारे निश्चयों को सुनने का अवकाश नहीं है''''''''"

उस के इस उत्तर से मैं तिलमिला गया, किन्तु तो भी संयत रहा। मैंने उससे विनय पूर्वक कहा, "ठीक है मैं तुमसे अपना कोई निश्चय नहीं कहूँगा किन्तु क्या यह पूछ सकता हूँ कि क्या तुम शैल से विवाह करके बच्चों का पालन पोषण करने को तत्पर हो।"

मेरी बात सुनकर प्रथम वह कुछ भयभीत हुआ। फिर कुछ हंसा, फिर बोला, "यह भी खूब रही, मैं'''मैं शैल से विवाह क्यों करने

लगा, उसका विवाह तो तुम्हारे साथ तो हो ही चुका है अब……।"

मैंने बात काट कर कुछ क्रोध में कहा "बात बनाने की चेष्टा मत करो प्रेम, मैं हाँ या ना में उत्तर चाहता हूँ। तुमने उसे पथ-भ्रष्ट किया है, वह तुम से प्रेम करती है……" इस बार वह क्रोध से फुफकारते हुए बोला, "चुप रहो, जो व्यक्ति अपनी पत्नी न संभाल सके उसे यह कहने का अधिकार नहीं। और रहा विवाह का प्रश्न। तो क्या क्या यह आवश्यक है कि मैं जिस औरत के साथ सोऊँ, उसके साथ विवाह करलूँ। भला इसी में है कि तुम चुपचाप यहाँ से चले जाओ, अन्यथा मुझे विवश होकर तुम्हें बलात् बाहर निकालने का आदेश देना होगा।

"उसके इन शब्दों ने मेरे सम्पूर्ण शरीर में आग लगा दी। मैं क्रोध से काँप उठा। मेरे मन में प्रथम आया कि मैं इसे इसी समय गोली का निशाना बना दूँ किन्तु मैं कुछ संभल गया। मैंने उससे द्वन्द्व युद्ध करना ही उचित समझा। निहत्थे पर प्रहार करना मैंने कायरता समझी। यही सोचकर मैंने लिफाफे में लिपटा हुआ रिवाल्वर पास में ही रख कर उससे युद्ध करने के लिए हाथ उठाया। किन्तु प्रेम अकस्मात् मुझे छोड़ कर उस लिफाफे पर टूट पड़ा। मैं भी सतर्क था। मैंने भी रिवाल्वर लेने को हाथ बढ़ाया। मेरे बढ़े हुए हाथ ने उसके प्रयास को व्यर्थ कर दिया। लिफाफा उठाने में मैं सफल रहा। मैंने एक ही क्षण में लिफाफे में से रिवाल्वर निकाल लिया। रिवाल्वर हाथ में आते ही मेरा आत्म विश्वास जाग पड़ा। मैं उस समय भी हत्या करने के पक्ष में नहीं था। इसी लिए मैंने गर्ज कर प्रेम से कहा, "पीछे हटो, हाथ सीधे करो।"

"किन्तु मेरी इस गर्जना का कोई भी प्रभाव उस पर नहीं पड़ा। वह मेरे अत्यधिक निकट था, अतः उसने झपट कर मेरा

हाथ पकड़ लिया। मैंने हाथ छुड़ाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह मेरा हाथ मोड़ कर रिवाल्वर लेने का प्रयास कर रहा था। मैंने अपने हाथ को मुक्त करने के लिए उसे झटका देकर ढकेला, किन्तु उसने मेरा हाथ छोड़ा नहीं। मैंने एक बार पुनः प्रयत्न किया। इस बार के प्रयत्न में हम दोनों बुरी तरह गथ गए थे। मेरे एक ही झटके में वह नीचे आगया था, किन्तु नीचे आ जाने पर भी उसने मेरा हाथ नहीं छोड़ा था। मैंने उसी अवस्था में उससे हाँपते हुए प्रश्न किया, "प्रेम, शक्ति प्रयोग में प्राणों का भय है, मैं...मैं ठीक नहीं समझता।.......इस प्रकार से कुछ नहीं होगा....यदि तुम अब भी शैल से सम्मानपूर्वक विवाह करने को राजी हो तो....."किन्तु मेरी बात पूर्ण न हो सकी। उसने वेग से मेरा रिवाल्वर वाला हाथ खींच लिया। झटका खाकर अनायास ही दग गया। मैं यह समझ भी न सका। प्रेम के मुख से "दुत् ....कुत्ते" के साथ एक आह निकली और वह मेरे हाथ पर ही आ गया। उसके भार को मेरा हाथ सहन न कर सका और उसमें से एक गोली और छूट गई। इस बार मैंने देखा कि वह गोली उसके भेजे को छेदती हुई पार हो रही है। यह देख कर मैं काँप उठा। इस समय प्रेम की पकड़ ढीली पड़ी और वह एक झटके के साथ नीचे आ पड़ा।.......मैं यह देख कर काँप गया कि वास्तव में वह अपने प्राण खो चुका था। मैंने एक मनुष्य की हत्या की है, इस विचार मात्र से मैं काँप उठा। "मेरे मस्तिष्क में उस समय यही उठ रहा था, "प्रेम की हत्या हो गई यह बुरा हुआ किन्तु क्या मैंने उसकी हत्या जान कर की। परिस्थितियों से स्पष्ट है कि हत्या हो गई, मैंने की नहीं। किन्तु हत्या तो हत्या ही है। कानून यह नहीं देखेगा कि मेरी परिस्थितियाँ क्या थीं, मुझे हत्या करनी पड़ी, या मैंने की या होगई। यह कोई नहीं देखेगा। यह ठीक है हत्या मैंने की है........" इसी सयम बाहर

मुझे कुछ कोलाहल सुन पड़ा। मेरा ध्यान भंग हुआ। मैंने चलते समय प्रेम के रक्त रंजित मुख पर एक दृष्टि डाली, फिर न जाने क्या विचार कर अपने पैरों की एक ठोकर उस मृतात्मा को देकर मैं बाहर निकल पड़ा।"

"बाहर निकलते ही मुझे मणि दीख पड़ी। उसने मुझ से कुछ कहना चाहा किन्तु मेरे हाथ में रिवाल्वर देख कर उसका मुख भय के कारण खुल न सका।''' मैं बिना कुछ कहे, बिना कुछ सुने बाहर आ गया था।''''''''जब मैं अपनी कार पर बैठा तो मैंने "पुलिस''''पुलिस का कोलाहल अवश्य सुना। किन्तु मैं वहाँ रुका नहीं।''''मैंने स्वयं पुलिस के समक्ष आत्म समर्पण का निर्णय कर लिया था''''''''।"

"मैं जब कार से वापस लौटा तो मेरे मस्तिष्क में दो प्रकार के विचारों में द्वन्द्व चल रहा था। प्रथम मेरे मस्तिष्क में यह बात आई कि क्या मैंने हत्या करके कोई अन्य जघन्य अपराध किया, पाप किया''''''''। जहाँ तक पाप का प्रश्न है, मैंने कोई पाप नहीं किया''''''''मैंने एक ऐसे व्यक्ति की हत्या की है जो समाज को भ्रष्ट कर रहा था, जो भोली भाली निरीह अबलाओं के सतीत्व के साथ खिलवाड़ कर रहा था''''जो सभ्यता के आवरण को धारण कर पशुता का प्रचार कर रहा था''''ऐसे व्यक्ति की हत्या को मैं पाप नहीं मानता।''''''''किन्तु मैंने कानून की दृष्टि में अपराध अवश्य किया है। मैंने एक व्यक्ति की हत्या की है, वह व्यक्ति कैसा था, इससे कानून से कोई सम्बन्ध नहीं। उस व्यक्ति ने क्या किया इस ओर से भी कानून आँख बन्द किए हुए है''''''''उस व्यक्ति ने समाज को भ्रष्ट किया, उस व्यक्ति ने मेरे जीवन को नष्ट किया''''''''किन्तु इससे भी कानून का कोई सरोकार नहीं। इसके लिए तो वहाँ दूसरा कानून था''''

""""""मुझे कानून को अपने हाथ में लेने का क्या अधिकार था ? शायद कोई नहीं।""""""किन्तु मैंने अपने हाथ में कानून लिया कहाँ""""""वह तो विवश हो ही गया।""""""तो भी क्या मैं अपराधी हूँ ? अपराध की सीमाओं में आता हूँ""""""मैं सोचते-सोचते रुका। मुझे लगा "वास्तव में मैं अपराधी हूँ, मैंने एक व्यक्ति की हत्या की है, कानून को अपने हाथ में लिया है, उसका उल्लंघन किया है""""""मैं अपराधी हूँ।" यह विचार आते ही मैंने पुलिस के समक्ष आत्म समर्पण करना उचित समझा। सामने एक पुलिस का सिपाही खड़ा था। मैंने उसके समीप पहुँच कर समीप की पुलिस चौकी का पता पूछा, उसने संक्षेप में बतलाया भी। किन्तु मेरी मानसिक स्थिति उस समय कोई भी बात समझने की न थी। मैं समझ न सका। उसके बतलाए हुए मार्ग की ओर मैंने कार मोड़ अवश्य दी। किन्तु चौकी तक पहुँच न सका। इसी समय मेरे मस्तिष्क में एक विचार और आया "क्यों न एक गोली और व्यय कर डालूँ।""""""""""अपना भी अन्त कर लूँ।" किन्तु मैं यह सोचकर रुक गया कि शैल से मिल कर एक बार मैं अपनी विवशता को स्पष्ट कर दूँ। "अन्यथा मैं उसकी दृष्टि में सदैव अपराधी ही रहूँगा।""""""""""वह यही समझती रहेगी कि मैंने उसके प्रेमी को मार डाला""""""।"

जिस समय वे यह कह रहे थे मैं फफक-फफक कर वहीं बैठी रो रही थी। अश्रुधारा चल रही थी किन्तु कान खुले हुए थे। इसके पश्चात् उन्होंने किस प्रकार स्वयं जाकर रिपोर्ट आदि लिखाई, इसका संक्षेप में वर्णन किया, किन्तु इसके आगे मैं सुन न सकी। उस समय मुझे कुछ ऐसा आभास हो रहा था कि सम्पूर्ण विश्व मेरी ओर ही घूर-घूर कर देख रहा है। मैं उस समय की अपनी मनः स्थिति का वर्णन करने में असमर्थ हूँ।

मुझे भी कोर्ट में अपने बयान देने पड़े थे। मैंने भी रोते हुए

अपने घृणित प्रेम की कथा संक्षेप में कह सुनाई थी। बयान के पश्चात् मैं न्यायाधीश से यह पूछना चाहती थी कि "आप समझ ही गए होंगे कि अपराधी मेरे पति नहीं मैं हूँ, वे निर्दोष हैं। वास्तव में हत्यारिणी मैं हूँ, मेरे कारण ही मेरे पति ने यह हत्या की। अतः दण्ड मुझे मिलना चाहिए।" किन्तु यह सब मैं सोच कर ही रह गई। कह कुछ नहीं सकी।

इसके पश्चात् प्रत्येक न्यायालय से मेरे पति पराजित होते गए। अन्त में सर्वोच्च न्यायालय से भी उन्हें आजीवन कारा वास का दंड मिला। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कानून सचमुच ही नेत्र-हीन होता है। मुझे उस दिन प्रथम बार यह ज्ञात हुआ कि कानून, मनुष्य कैसा है, उसने क्या अपराध किया है, यह नहीं देखता। वह केवल यही देखता है कि एक मनुष्य की हत्या की गई, अतः हत्या करने वाला व्यक्ति कानून की दृष्टि में दण्ड-नीय है। काश! कानून के नेत्र होते। वह यह देख सकता कि हत्या करने वाला मनुष्य वास्तव में देवता है और जिसकी हत्या की गई है वह पुरुष वेष में राक्षस था। आप चौंकेंगे कि मैं आज अपने प्रेमी प्रेम को राक्षस कह रही हूँ। इसमें मेरी स्वार्थ-परता को ही आप दोषी ठहरायेंगे। निश्चित रूप से आपका यही विचार होगा कि जब तक वह जीवित रहा तब तक देवता रहा, उसकी तू पति को प्रवंचित करके उपासना करती रही और आज उसकी मृत्यु के पश्चात् वह तेरे लिए राक्षस हो गया है। हाय री नारी! आपको पूर्ण अधिकार है यह सब विचारने का। किन्तु मेरी धारणा में यह जो परिवर्तन आया है, इसका भी एक सबल आधार है। केवल स्वार्थ नहीं। उसकी मृत्यु के पश्चात् मुझे यह ज्ञात हुआ कि वह कितना कामी और नीच था। उसने मुझ ऐसी कितनी ही विवाहित और अविवाहित स्त्रियों को

विवाह का लालच देकर अपने जाल में कर रखा था। मणि उसकी बहन उसके इन कार्यों में सहायक थी। "मेरा भैय्या कुंवारा है, मैं तो तुम्हें भाभी बनाऊँगी" कह कर ही वह भोली-भाली नवयुवतियों को फाँसा करती थी। मैं भी उसी की इस प्रवंचना में आ गई थी। वे दोनों ही, नारी मनोविज्ञान के भी बड़े भारी पारखी थे। नारी के हृदय का कौन-सा कोमल स्थान है, कौन-सी स्त्री किस दुख: से दु:खी है यह उन लोगों को शीघ्र ही ज्ञात हो जाता था। इसके पश्चात् उन लोगों का कार्य होता था विवाहित स्त्री को अपने पति से और अविवाहित बालिकाओं को अपने पिताओं से विमुख करना। वे अधिक से अधिक ऐसी ही बातें करते थे जिससे भोली-भाली नारी यह जान सके। जितने भी दोष हैं वे सब मेरे पति या पिता में हैं। वे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते थे कि शीघ्र ही पत्नी अपने पति से और पुत्री अपने पिता से घृणा करने लगती थी। उसे पूर्ण विश्वास दिला दिया जाता था कि वह उससे = विवाह करेगा किन्तु, एक बार उसका सतीत्व भंग करने के पश्चात् वह उससे दूर रहने का ही प्रयत्न करने लगता था। केवल मेरे साथ ही नहीं उसने मेरी ऐसी लगभग सौ कुल बन्धुओं को प्रवंचित किया था। अब आप स्वयं ही यह बतलाइए कि क्या आप ऐसे व्यक्ति को राक्षस नहीं मानेंगे। यदि उसे आप वास्तव में राक्षस मानते हैं तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप ऐसे व्यक्ति को समाज से हटा देने के पक्ष में होंगे। और ऐसे व्यक्तियों को समाज से उस प्रकार हटाया जा सकता है, जिस प्रकार मेरे पति ने उसे हटाया। अब आप स्वयं एक बार मेरे पति के अपराध पर विचार कीजिए और निर्णय दीजिए क्या वे वास्तव में अपराधी हैं ? यदि नहीं, तो उन्हें मुक्त क्यों नहीं किया जाता।

मेरी पाप कथा समाप्त हुई। आपने मुझ पापिनी की कथा

को बड़े ध्यान से सुना, इसके लिए मैं आपकी हृदय से कृतज्ञ हूँ। मैंने अपना नाम आप पर प्रकट नहीं किया है, न आज भी प्रकट करना चाहती हूँ।

इस कथा को कहते समय मैंने बड़े साहस से अपनी गत स्मृतियों को पुरोया है। किन्तु यह मेरा अभाग्य ही तो होता कि मैं अपनी त्रुटि पहचान कर भी आलीशान बंगले में रहती और मेरे पति कारागार की काल कोठरियों में बन्द रहते!

मैं अब आप का अधिक समय लेना नहीं चाहती। आप यदि कभी बम्बई आएँ तो मैं आपके दर्शन करके कृतार्थ हूँगी। मैं कह चुकी हूँ कि मैंने अपना फ्लैट त्याग दिया है। आज कल मैं एक छोटी-सी कुटिया बना कर अपने बच्चों के साथ रह रही हूँ। आप इसे अपने कार्यों का प्रायश्चित कहेंगे, किन्तु मैं इसमें अपना सौभाग्य समझती हूँ। और सत्य कहती हूँ कि मुझे जितना इस कुटिया में आनन्द है, उतना उस फ्लैट में भी नहीं था। यदि आप इधर आएँ तो स्मरण रखिएगा १६८० गिरगाँव, बम्बई, श्री ४२० मार्ग से आपको मेरी कुटिया तक आना पड़ेगा। इसे कृपा कर स्मरण रखिएगा। धन्यवाद!